रंगमंच : कला और दृष्टि

तक्षशिला प्रकाशन
२३/४७६२ अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

रंगमंच : कला और दृष्टि

डॉ० गोविन्द चातक

पूर्व-कथन

□□

पुस्तक आपके हाथों में है। मुझे इसके सम्बन्ध मे अधिक नहीं कहना है। इससे पूर्व हिन्दी में रंगमंच को लेकर कुछ थोड़ी-सी पुस्तकें निकल चुकी हैं जिनमे नेमिचन्द्र जैन की 'रंगदर्शन' हिन्दी पाठक को रंगमंच के प्रति जागरूक दृष्टि देने में सहायक हुई है। मेरी यह पुस्तक विषय-वस्तु और परिकल्पना की दृष्टि से एक भिन्न परिप्रेक्ष्य में लिखी गयी है।

नाटक और रंगमंच के क्षेत्र मे निरन्तर एक वैचारिक क्रान्ति होती रही है और भारतीय तथा पश्चिमी नाट्य-तत्त्वज्ञों और रंग-दार्शनिकों ने उसे समय-समय पर नयी दृष्टि दी है। इसको ध्यान में रखते हुए मैंने इस पुस्तक में रंगमंच के स्वरूप, सर्जनात्मक प्रक्रिया, कलात्मक आयाम, शैलियाँ, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और वर्तमान समस्याओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है। विषय और भी थे जिन पर लिखा जा सकता था; किन्तु मैंने अपने को कुछ अछूते विषयों तक ही सीमित रखा है। आशा है, पुस्तक रंगमंच के अध्येताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

१०, वाणी विहार, गोविन्द चातक
नई दिल्ली-११००५९

प्रभा को

अनुक्रम

रंगमंच : स्वरूप और कला

नाटक और रंगमंच : सम्बन्ध सूत्र

1

नाटक और रंगमंच को लेकर एक लम्बे अरसे से विवाद चल रहा है। विवाद का आधार इतना ही है कि कुछ लोग नाटक को एक साहित्यिक विधा मात्र मानते हैं और रंगमंच से भी अलग उसकी एक अलग सत्ता की वकालत करते हैं। वे नाटक को रंगमंच के लिए नहीं, रंगमच को नाटक के लिए मानते हैं। दूसरी ओर रंगकर्मियों और समीक्षकों का एक वर्ग ऐसा भी है जो रंगमंच को नाटक का अनिवार्य तत्त्व घोषित करते हैं और इस सीमा तक चले जाते हैं कि जो खेला न जाय या खेलने के लिए न लिखा जाय, वह नाटक ही नही है।

पहली स्थापना का मुख्य कारण यह है कि नाटक अन्य साहित्यिक विधाओं की भाँति शब्दार्थमयी योजना के द्वारा जीवन की काल्पनिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करता है। किसी अन्य विधा की भाँति वह भी लेखक की रचना-शक्ति की देन है। रंगमंच की अपेक्षा उसको रहती है, किन्तु नाटक को सर्वत्र और सब कालों मे रंगमंच मुहय्या हो सके, यह सम्भव नही होता। दूसरी बात यह है कि रंगमंच पर नाटक प्रदर्शित अवश्य होता है किन्तु उसकी सत्ता वहाँ उतनी ही देर तक सम्भव है जितनी देर तक वह खेला जाता है। प्रदर्शन के साथ ही नाटक का प्रदर्शन सम्बन्धी स्वरूप जीवित नहीं रहता—जीवित रहती है केवल नाट्यकृति, जिसे पढ़ा जा सकता है। उसे देखा जा सके, इसके लिए फिर से नये प्रयत्न की आवश्यकता होती है। परिणाम यह होता है कि नाट्य-कृति प्रमुख हो जाती है और उसे ही नाट्यकला का समग्र रूप मान लिया जाता है।

इसी से एक भ्रामक दृष्टि जन्म लेती है। नाटककार यह समझने लगता है कि नाट्यकृति ही सब कुछ है और इस अर्थ में वह ही सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण व्यक्ति है। दूसरी ओर परिचालक और उसके सहकर्मी सोचते है कि नाट्य-कृति केवल एक आधारभूत शाब्दिक योजना मात्र है; उसको एक वास्तविक

पूर्णता रंगमंच ही प्रदान करता है। इन दो विरोधी विचारों के कारण यह विवाद स्वतः बल पकड़ लेता है कि वास्तविक स्रष्टा कौन है : नाटककार अथवा परिचालक ? दोनों एक-दूसरे का विरोध करते दीखते हैं। परिचालक तथा अन्य रंगकर्मी यह समझते हैं कि नाटककार को रंगमंच के नाम पर कुछ नहीं आता। दूसरी ओर नाटककार परिचालकों से या तो त्रस्त रहे हैं या उनकी दया पर निर्भर करते आए हैं। प्रायः परिचालक नाटक के साथ न्याय नहीं कर पाते। रंगमंच कभी दर्शक की रुचियों के अनुसार ढलता जाता है और इतना नीचे गिर जाता है कि वह मनोरंजन का अच्छा-खासा साधन भले ही बन जाय, अच्छी नाट्यकृति के कलात्मक सम्प्रेषण का आधार नहीं बन पाता। विश्व में भ्रष्ट रंगमंच के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। इंग्लैण्ड में उन्नीसवीं सदी के आते-आते अभिनेता-प्रबन्धकों ने रंगमंच की ऐसी ही दुर्दशा कर रखी थी। फलतः बर्नार्ड शॉ, बीयरमैन, आर्चर ने घोर विरोध ही नहीं किया था, वरन् एक ऐसे रंगमंच को बनाने में भी सहायता दी थी जिसमें नाटककार को मुख्यता मिली। व्यावसायिक रंगमंच के कारण भारत, योरोप और अमेरिका में सर्वत्र रंगमंच की स्थिति दयनीय ही रही। मंच धनिकों के हाथ में रहा, उसका उनके हाथों बुरी तरह ह्रास हुआ; किन्तु नाटककारों और रंगकर्मियों ने जब रंगमंच की सामर्थ्यहीनता के विरुद्ध एक आवाज़ उठाई तो फिर से नाटक को उपयुक्त रंगमंच प्राप्त हो सका। फिर भी नाटककार रंगमंच और उसके स्रष्टाओं से सब कालों और सब देशों में किसी न किसी कारण से असन्तुष्ट रहा है। हमारे अपने युग में प्रसाद, प्रीस्टले, एलियट, पिरांडेलो, येट्स, शॉ, ब्रेख्त, आदि अनेक समर्थ नाटककार रंगमंच की सामर्थ्यहीनता के विरोध में रहे हैं। बर्नार्ड शॉ ने तो यहाँ तक कहा है कि नाटक का सबसे उपयुक्त प्रस्तोता नाटककार स्वयं ही सकता है, कोई और नहीं।

इस विरोध के पीछे थोड़ा-बहुत सत्य का अंश हो सकता है, किन्तु नाटक को दो हिस्सों में बाँटकर किसी एक को लेकर अपने को उसका सर्वेसर्वा मान बैठना नाटककार और परिचालक दोनों के लिए युक्तिसंगत नहीं है। यह मानकर बैठ जाना कि नाट्यकृति केवल साहित्यिक उपलब्धि है, कई प्रकार के भ्रम पैदा करता है। यह नहीं भूलना चाहिए कि नाटक काव्य ही नहीं, दृश्य-काव्य भी है। दृश्यता उसका परम लक्ष्य है और काव्य एक उपादान। हमारे देश में नाट्यशास्त्र की यही मूल दृष्टि थी। वास्तव में सारे नाट्यशास्त्र की अवतारणा रंगधर्म को केन्द्र में रखकर की गई है। भरत के विवेचन से यह संकेत आसानी से ग्रहण किया जा सकता है कि नाटक सारी नाट्य-योजना का अंग मात्र है, वह अपने में पूर्ण नहीं है। लोल्लट और शंकुक ने भी नाट्य में ही रस की मूल सिद्धि मानी है। बाद में जब रस नाट्य के क्षेत्र से हटकर काव्य

के क्षेत्र में चर्चित होने लगा तो धीरे-धीरे इस स्थिति में उलटी प्रतिपत्ति मान्य हो गयी। अभिनव ने सामाजिक के रस को नाट्य का फल अवश्य माना पर साथ ही काव्य के रस को भी बीज-रूप में प्रतिपादित किया। और भोज के समय तक आते-आते तो कवि की महत्ता ही स्थिर हो गई : अभिनेतृभ्यः कवीन् एव बहुमन्यामहे।

यह परिवर्तन रंगमंच की ह्रासशील स्थिति का द्योतक है। रंगमंच के ह्रास के साथ नाटक का केवल लिखित रूप तक सीमित होना स्वाभाविक था। ऐसे लेखकों की कमी नही रही जिनका नाट्य लेखन केवल पठन-पाठन तक ही सीमित रहा। इसमे कोई सन्देह नही कि कुछ नाटक साहित्यिक गुणवत्ता से युक्त होते हैं और पढने पर वे काव्य का-सा आस्वाद देते हैं। किन्तु इस सत्य की भी अवेहलना नही की जा सकती कि नाटक का पाठ्य-रूप आस्वाद का अधूरा अनुभव देता है। नाटक को पढना और उसे मंचित रूप मे देखना दो विभिन्न कोटि के अनुभव कहे जा सकते हैं। यह ठीक है कि कई नाटक इतने बड़े क्लैसिक बन जाते हैं कि वे साहित्य-विधा के रूप में पढ़े और पढ़ाये जाते है और रंगमच पर आने का मौका उन्हें कमी-कमार ही मिलता है; पर उन कृतियों का सौन्दर्य रगमंच पर उभरते देखने के लिए भी लोग आतुर रहते हैं। वस्तुत: जब हम नाटक को पढ़ते हैं तो उतने अनुभव के बीच से नही गुजरते हैं; किन्तु जब उसे मंच पर देखते हैं तो हम इंद्रिय बोध के स्तर पर एक अपूर्व आस्वाद पाते हैं। नाटक की पांडुलिपि एक ही रहती है, पर जितनी बार वह मंचित होती है, उतने ही आस्वाद देती है, उतने ही रूप ग्रहण करती है, उतने ही अर्थ उजागर करती है। रंगमंच पर अभिनेता, अभिकल्पक और परिचालक पाठ के आधार पर नाट्य को गढ़ते हैं। रंगकर्मी पर जो कुछ रचना करता है, वह केवल नाटक के पाठ्य रूप पर निर्भर नहीं करती। नाटककार यदि सर्जन करता है तो रंगकर्मी भी सर्जन से पुनः सर्जन करता है और यह पुनः सर्जन पूरी तरह लिखित नाटक पर निर्भर होता हो, ऐसी बात नही।

इसमे कोई संदेह नही कि नाटककार और रंगकर्मी के बीच लिखित शब्द का रिश्ता होता है। पर एक को दूसरे का विकल्प नही माना जा सकता। जब तक पाडुलिपि या छपा नाटक नाटककार या पाठक के हाथ मे होता है, उसकी अपनी एक स्थिति होती है; किन्तु जब वह रंगकर्मी के हाथ मे आ जाता है तो उसको एक अलग जिन्दगी शुरू करनी होती है। नाटककार अपनी रंगदृष्टि भले ही व्यक्त करे, या लम्बी-चौड़ी भूमिकाएँ लिखकर अपने मतव्य बघारे, पर कृति को मच पर आने के लिए सर्जन की दूसरी प्रक्रियाओं से होकर गुजरना ही पड़ेगा। वस्तुतः मंच पर नाटक अपनी सही जिंदगी जीता है। नाटक स्थूल मायिक ककाल है, प्राणशक्ति की प्रतिष्ठा उसमे मंच ही करता है। शायद ही कोई

नाटककार ऐसा हो जो यह न चाहता हो कि उसका नाटक मंचित न हो। केवल पढने के लिए कोई भी नाटक लिखना पसन्द नहीं करेगा क्योंकि नाटक लिखना ही स्वयं अपने को रंगमंच की रूढ़ियों से बांध लेना है। नाटक के लेखन में रंगमंच के सारे विधान को अपनाने का झमेला ही कोई क्यों ले, यदि उसे नाटक सिर्फ पढने के लिए ही नाटक लिखना हो ? उन लोगो की बात दूसरी है जो रंगमच से रुष्ट हो जाते हैं। हमारे यहाँ प्रसाद रंगमंच से रुष्ट थे। बेन जोन्सन थियेटर कम्पनी से लड बैठा तो उसने ऐवरी मैन आउट ऑव हिज ह्यूमर मे रगमच वालों को चिढाने के लिए लिख दिया कि इसके छपे रूप में अभिनीत रूप से भी अधिक रसवत्ता है। और अपने नाटकों के संकलन पर उसने यह 'मोटो' टाँग दिया· 'मैं मुँह फाड़कर देखनेवाली भीड के लिए नही लिखता—मैं तो थोड़े से पाठकों के लिए लिखता हूँ।'

ऐसा मन-बहलाव प्राय· बहुत-से नाटककार कर लेते हैं। हम इसका विरोध नहीं करते कि नाटक छापे न जाएँ, या लोग उन्हें पढ़े नही। हमारे अपने युग मे बर्नार्ड शॉ ऐसी साहित्यिक हस्तियो मे रहे हैं जिनका रंगमंच पर पूरा दबदबा रहा है, पर उनका विचार था[1] कि रंगमच के भ्रात इम्प्रेशन को सही करने के लिए नाटको का छापना और पढा जाना जरूरी है। वे यह मानते रहे हैं कि रंगमच नाटको की यथातथ्य प्रस्तुति करने में असमर्थ रहता है। ऐसी स्थिति में नाटको का पढ़ा जाना उनके देखे जाने के पूरक कर्त्तव्य का निर्वाह करता है। शॉ के अनुसार नाटककार और रगकर्मियों की सर्जनात्मक प्रतिभा परस्पर सघर्परत रहती है और रंगकर्मी नाटक को जिस प्रकार प्रस्तुत करते हैं उससे उसे यह लगता है कि उसकी बात कहे बिना रह गई है। तब उसके पास अपनी नाट्यकृति को सब कुछ समझने के अतिरिक्त क्या चारा रह जाता है ? मोहन राकेश को भी यह शिकायत थी कि 'रंगमंच का जो स्वरूप हमारे सामने है, उसकी पूरी कल्पना परिचालक और उसकी अपेक्षाओ पर निर्भर करती है। नाटककार का प्रतिनिधित्व होता है एक मुद्रित या अमुद्रित पांडुलिपि द्वारा जिसकी अपनी रचना-प्रक्रिया मंचीकरण की प्रक्रिया से अलग नाटककार के अकेले कक्ष और अकेले व्यक्तित्व तक सीमित रहती है।···नाटककार की स्थिति एक ऐसे 'अजनबी' की रहती है जो केवल इसलिए है कि पांडुलिपि उसकी है···।'[2] यह अहसास कई स्थितियों मे स्वाभाविक है, पर विवशता है सत्य नहीं।

नाटककार की इस वकालत और आक्षेप के बावजूद भी सत्य का एक दूसरा पक्ष भी है। एक ओर यह कहा जाता है कि रंगमंच मूर्खों के हाथ मे है, वह

१. प्लेज अनप्लेजेंट की भूमिका
२. मोहन राकेश साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि, पृ० ८३

अक्षम है; दूसरी ओर इस बात को भी नहीं भुलाना चाहिए कि रंगमंच नाटक को अतिरिक्त आयाम प्रदान कर उसे कई गुना जीवंतता प्रदान करता है। यहाँ तक कि मामूली से संवाद को, जिसका साहित्य में कोई स्थान निर्धारित करना सम्भव न हो, मंच पर वाणी, गति, भंगिमा प्रदान कर एक अद्भुत सर्जनात्मक स्वरूप दिया जा सकता है। यही कारण है कि ठीक तरह से न लिखे हुए नाटक को भी रंगमंचीय उपादानों से सफलता के सोपानों तक उठाया जा सकता है। रंगमंच की सीमा के साथ यह सामर्थ्य भी जुड़ी हुई है।

नाटक को पढ़ने में कोई हानि नहीं। किन्तु इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि पढ़ना और देखना दो विरोधी धर्म नहीं हैं। जब तक हम यह मानते हैं कि नाटक नाटक है, तब तक उसे साहित्य की भाँति पढ़ लेने में कोई अहित नहीं; किन्तु अध्ययन पूरक मात्र है और उसे रंगमूलक बनाना जरूरी है। रंगमंच की स्वस्थ परम्परा के लिए भी नाटक पढ़े जाएँ, यह बुरा नहीं, किन्तु पाठक को भी जागरूक होकर मंचीय तत्त्वों को आँकना सीखना चाहिए। बहुत कुछ ऐसा होता है जो नाटक में अनलिखा-अनकहा होता है और उसे रंगकर्मी छपी पंक्तियों के बीच से उभारते हैं। रंगमंच के उस आयाम को ध्यान में रखे बिना नाटक पढ़ भी लिया जाय तो उससे बहुत लाभ नहीं। जो लोग नाटक को मात्र पढ़ने में विश्वास रखते हैं या वे जो नाटक के प्रेक्षक मात्र बनकर रहना पसंद करते हैं, नाट्य को विभाजित कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एकांगी आधार पर नाटककार और रंगकर्मी, पाठक और प्रेक्षक को लेकर दो दल बन जाते हैं। यहाँ तक कि समीक्षकों के दो दल हो गये हैं। समीक्षकों का एक दल है जो केवल नाटक के पाठ की ही समीक्षा करता है और दूसरा केवल नाट्य प्रदर्शनों के 'रिव्यू' को ही नाटक की सही समीक्षा मानता है। इन दोनों कोटियों के समीक्षक पाठक और प्रेक्षक के ही प्रतिरूप हैं। पाठक के लिए विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, सम्वाद, देशकाल, उद्देश्य आदि के खानों-दराजों वाली वर्गीकृत समीक्षा के ढेर लगाते जाते हैं; रंग-तत्त्वों की व्याख्या से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं होता। सारी नाट्य-समीक्षा एक ऐसे साँचे में ढल गयी कि उसे पढ़कर नाटक के साहित्यिक पक्ष का कहीं आभास नहीं मिलता और न इस बात का कि रंगतत्त्व भी साहित्यिक तत्त्वों की भाँति ही उसके अर्थ का विस्तार करते हैं। दूसरी ओर रंगमंचीय प्रदर्शनों को लेकर पत्र-पत्रिकाओं या पुस्तकों में जो समीक्षाएँ लिखी जाती हैं वे बहुत साधारण होती हैं—एक प्रकार से सरलीकरण की प्रवृत्ति से ग्रस्त और साधारण विशेषणों से युक्त। रंग-समीक्षक नाटक के पाठ्य रूप का विशेषज्ञ हुए बिना ही आज इतनी ही क्षमता रखता है कि प्रेक्षागृह के एक कोने में मुफ्त में बैठने के लिए जगह के साथ किसी दैनिक पत्र का कॉलम उसे

रँगने के लिए मिल जाता है।

वस्तुतः लिखित रूप में नाटक की स्थिति वही है जो किसी फिल्म के लिए सीनेरियो या मकान के लिए 'ब्लू प्रिंट' की होती है। जिस प्रकार संगीत-लिपि संगीत-रचना में सहायक होती है, उसी प्रकार नाटक का शाब्दिक स्वरूप भी एक निर्देशक संकेत है जिसके आधार पर रंगमंच नाट्य की कलात्मक संरचना करता है। इस प्रकार नाटककार की स्थिति प्रस्तुति के लिए संभर्ता की है—वह एक तरह से कच्चा माल प्रस्तुत करता है जिसको वास्तविक स्वरूप रंगमंच ही प्रदान करता है। परिचालक की दृष्टि से नाट्य की सिद्धि केवल नाटक की शब्दार्थमयी योजना से ही सम्भव नहीं। रंगमंच की अपनी 'भाषा' होती है—उसके लिए नाटकीय शब्द या सम्वाद ही काफी नहीं है। उससे भी भिन्न उसकी एक ठोस मूर्त भाषा होती है जो इन्द्रिय सवेगों की कविता को उभारती है और यह कविता सामान्य बोले जाने शब्द से भी परे अपनी अभिव्यक्ति का विस्तार करती है। वास्तव मे नाट्य की समग्र रचना में लेखक ही कर्त्ता नहीं, उसके और भी कई सहयोगी कर्त्ता होते हैं। इसीलिए उसका यह समझ लेना कि वही कर्त्ता है, भ्रामक है। जिसे वह नाटक कहता है, वह तो नाट्यकला का प्रारूप मात्र है, समग्र रूप नहीं। बात सिर्फ इतनी-सी है कि नाटककार की स्थिति प्राथमिक है। बाद मे कृति को दृश्यकाव्य की पूर्णता देने के प्रयास मे रंगकर्मी भी उतना ही महत्त्व अर्जित कर लेता है। नाटक का दृश्य और श्रव्य पक्ष झुठलाया नहीं जा सकता। केवल नाटक को पढ़ने लायक बनाकर छोड़ देने से वह जीवन की विद्यमान सत्ता का आभास नहीं देता।

यहाँ नाटक की स्थिति कहानी या उपन्यास जैसी साहित्यिक विधाओं से भिन्न है। केवल सम्वाद ही उनके बीच की विभाजक रेखा नहीं है। कहानी या उपन्यास मे जब कोई सम्वाद आता है तो वह एक पूर्व-कथन के रूप मे आता है। नाटक का सम्वाद प्रेक्षक की सम्वेदना के लिए होता है और वह जीवन की तात्कालिक अभिव्यक्ति से जुड़ा होता है। साहित्य और नाट्य दोनों भिन्न उपादानों का प्रयोग करते हैं और भिन्न कोटि के सत्याभासों पर निर्भर करते हैं। नाट्य भी साहित्य की भाँति शब्द का प्रयोग करता है किन्तु यह श्रव्य तत्त्व के साथ-साथ दृश्य का भी उपयोग करता है। साहित्य का आस्वाद दिमाग की आँखों से सम्भव है; किन्तु नाट्य का साक्षात्कार चर्म-चक्षुओं से ही पूर्णता प्राप्त करता है।

इस पूर्णता मे नाटककार की ही भाँति अभिनेता, दृश्य सज्जाकार, परिचालक आदि सभी का अपना-अपना योगदान होता है। अभिनेता नाटककार से शब्द और चरित्र लेता है किन्तु भाव-मुद्रा, गति, वेशभूषा, अंग-विन्यास तथा स्वरोच्चार के द्वारा वह लिखित नाटक के परे भी भावना और अर्थ के कई

बंद द्वार खोलता है। चरित्र को देश और काल की भूमि पर साकार कर वह नाटककार की तुलना में आंखों और अन्य इन्द्रियों के लिए आस्वाद के कई आयाम उपस्थित करता है। अभिकल्पक/दृश्य-सज्जाकार देश और काल का आविष्कार कर नाट्य व्यापार को टिकाने का उपादान प्रस्तुत करता है वह साथ ही दृश्यबंध, प्रकाश, ध्वनि, वेशभूषा और रूपसज्जा के द्वारा नाट्य व्यापार के लिए एक दृश्य और श्रव्य माध्यम की योजना भी करता है। इस सारी योजना के लिए एक विलक्षण सर्जनात्मक प्रतिभा अपेक्षित होती है। कभी-कभी वह रंगमंच पर ऐसी सृष्टि करने में समर्थ होता है जो व्यावहारिक रूप में स्वयं नाटककार के लिए सम्भव नहीं होती। और इन सबसे ऊपर परिचालक का दाय होता है। वह सारी नाट्य-सृष्टि का स्वामी ही नहीं, अवधारक भी होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सारी रंगीयता नाटक के रचना-विधान में निहित होती है। फिर भी परिचालक अपने दृश्य-माध्यम से नाट्य-कृति के नये आयामों को उभारता है। वह नाटककार के मूल इरादों की खोज कर नाट्यकृति की व्याख्या ही नहीं करता, उसको लेकर एक पूर्ण सृष्टि भी करता है।

कुछ आलोचकों का कहना है कि नाटककार को छोड़कर और कोई सृष्टि नहीं करता—रंग के सभी सहभागी कलाकार नहीं—सर्जक कलाकार तो कदापि नहीं। उनका कहना है कि नाट्यकृति के रचना-विधान द्वारा आरोपित सीमाएँ उनको स्वच्छन्द रचना का अवसर कहाँ प्रदान करती हैं? परिचालक, अभिनेता, अभिकल्पक सभी नाटककार के इरादों को कार्यान्वित करने के लिए बाध्य हैं—कम-से-कम आधारभूत संकेत और सामग्री वे उसी से ग्रहण करते हैं। ये आक्षेप बहुत न्यायसंगत नहीं। वास्तव में नाट्य-कला एक मिश्र कला है और उससे सम्बन्धित सभी रंगकर्मी किसी न किसी रूप में सर्जनात्मक अंशदान करते हैं। उन्हें केवल 'व्याख्याता कलाकार' (इन्टर-प्रेटेटिव आर्टिस्ट) कह देना काफी नहीं है। नाटक के क्षेत्र में व्याख्याता का कार्य समीक्षक मात्र करता है। रंगकर्मी यदि कहीं नाटक की 'व्याख्या' करता भी है तो सर्जन के उद्देश्य से। दोनों की व्याख्या में आकाश-पाताल का अन्तर है। रंगकर्मी नाटक को समझने और सर्जनात्मक चयन की दृष्टि से व्याख्याता की भूमिका निभाता है। और अपनी उस व्याख्या और सूझ-बूझ से वह एक ऐसी सृष्टि करता है जो नाट्यकृति पर आधारित भले ही हो, पर उससे भिन्न रूप-रंग ग्रहण कर लेती है। अगर नाटककार की शब्दार्थमयी योजना ही सब कुछ होती तो रंगमंच पर सम्वाद कहला देने मात्र से नाटक की सफलता की आशा की जानी चाहिए। पर प्रायः ऐसा नहीं होता। कभी-कभी बहुत साधारण नाटक मंच पर सफल हो जाते हैं—इसका

कारण इतना ही है कि बहुत-सी स्थितियों में परिचालक, अभिनेता और अभिकल्पक मंच पर कार्य और भावना को वहाँ भी विकसित करने में समर्थ होते हैं, जहाँ नाटक की पाडुलिपि जवाब दे बैठती है। यह बात अच्छे नाटकों के विषय में भी सही है। नाटक का अभिलेख कभी अपने में पूर्ण नहीं होता। यदि ऐसा होता तो रंगकर्मी का कार्य केवल द्विरावृत्ति ही कहलाता।

जहाँ तक नाट्यकृति द्वारा आरोपित सीमा-बद्धता का प्रश्न है, नाटककार को चाहे हम नियंता मान भी लें, उससे रंगकर्मियों और रंगमंच का महत्व नही घटता। सब कलाकार सीमा मे ही कार्य करते हैं—कोई कला स्वच्छन्द नहीं। अपनी सर्जन प्रक्रिया मे हर कलाकार को सामग्री के चयन, उपयोग और कलात्मक रूपांतरण मे कुछ सीमाओं को स्वतः अपने ऊपर लादना पडता है। नाट्यकला में भी ऐसा ही होता है। पर केवल इस बात के कारण ही रंगकर्मियों को कलाकार की पंक्ति से बाहर नहीं किया जा सकता है। नाट्य में में उन सब का सहयोग एक तीव्र और सघन अनुभव को पैदा करता है। अकेले नाटककार का कृतित्व उसके सामने सब कुछ नही है। नाटक वस्तुतः नाट्यकला का एक अंग मात्र है—ठीक उसी तरह जिस तरह अभिनय, अभिकल्पना, प्रकाश योजना, रूप-सज्जा, परिचालना आदि उसके अंग हैं। नाट्य-रचना एक, और नाट्य प्रदर्शन दूसरी कला नही है।

इस सारे विवेचन का यह अर्थ नहीं कि नाटयकृति या नाटककार का स्थान गौण है। वास्तव में नाट्यकृति वह बिन्दु है जिससे रंगमंचीय प्रस्तुति का समारम्भ होता है। इसलिए उसकी सत्ता प्राथमिक भी है आधारिक भी। नाटक के बिना रंगमंच की कल्पना नहीं की जा सकती। यद्यपि आदिम स्थिति में रंगमंच का उद्भव नाटक के लिखित स्वरूप से कही पहले हुआ है और आज भी तात्कालिक आशु नाट्य प्रस्तुति (इम्प्रोवाइज्ड ड्रामा) के उदाहरण मिलते हैं। फिर भी हर प्रस्तुति के लिए नाटक का शाब्दिक रूप आवश्यक होता है। अधिकाश स्थितियों में प्रस्तुति का सारा ढाँचा, कथ्य और अर्थ तत्त्व सब नाटक के मूल रूप पर निर्भर करता है और नाटक ही प्रस्तुतीकरण के लिए संकेत प्रस्तुत करता है। सचाई यह है कि रंगमंच का पूरा विधान नाटक के रचनातंत्र में निहित और ध्वनित होता है। उसकी शाब्दिक योजना ही स्वयं मंच पर प्रस्तुत किये जानेवाले बिम्बों, भंगिमाओं, गतियो, क्रिया-व्यापारों आदि को निर्धारित करती है। नाटक से ही अभिनेता पात्र की सृष्टि करता है और अभिकल्पक दृश्य-सज्जा के उपकरण जुटाता है। और रंगमच की सारी प्रस्तुति के बाद जो बचा रहता है वह शब्द मात्र होता था—लिखित शब्द अर्थात् नाटक।

नाटक के महत्त्व को नकारने की बात नहीं है। अपेक्षा इतनी तो की ही जा सकती है कि नाटक नाटक हो। ऐसा भी प्रायः होता है कि समस्त शास्त्रीय उपायों के बावजूद नाटककार जो कुछ लिख पाता है वह या तो नाटक होता ही नहीं या निकृष्ट कोटि का नाटक मात्र होता है। वह कौन-सा मानदंड है जिससे यह निर्धारित किया जा सके कि नाटक सही अर्थों में नाटक है ? कुछ लोग नाट्यशास्त्र की दुहाई देंगे तो कुछ उसके रंगमंचीय आस्वाद की। पर नाट्यशास्त्र के सारे नियमों के आधार पर लिखा सुरचित नाटक – वेल मेड प्ले—भी कभी नाटक बनने से रह जाता है, और रंगमंच पर प्रेक्षक को जी भरकर हँसाने या आस्वाद के अन्य धरातलों में रमाने वाली प्रस्तुति में भी कभी नाटक की वास्तविक आत्मा लुप्त दिखाई देती है। कभी बहुत सामान्य नाटक रंगकर्मियों के कौशल मात्र से अपूर्व सफलता प्राप्त कर लेता है। तो क्या रंगमंचीय सफलता को नाटक का मानदंड माना जा सकता है ? नहीं, यदि ऐसा होता तो पारसी रंगमंच के नाटक ही आज लोगों के बीच मान्य होते। एक और रंगमंच की लोकप्रिय नाट्यकृतियाँ है जो काल-कवलित होती जा रही हैं; दूसरी ओर शेक्सपियर और कालिदास के नाटक रंगमंचीय प्रस्तुति के अभाव में भी आज जीवित हैं। अतः निरी रंगमंचीय सफलता का आग्रह अर्थ-हीन है। वस्तुत नाटक के लिए पहले नाटक होना अनिवार्य है। यह अनिवार्यता उसके शिल्प की ही नहीं, साहित्यिक उपलब्धि से भी संबद्ध है। इसलिए नाटक को एकदम साहित्य के क्षेत्र से बहिष्कृत कर देना भी उचित नहीं। नाटक की श्रेष्ठता उसकी तीव्र अनुभूति, भावना, जीवन-दृष्टि के साथ-साथ साहित्यिक अभिव्यक्ति पर भी निर्भर करती है। मूलतः काव्य का एक प्रकार होने के नाते नाटक काव्य के सर्जनात्मक तत्त्वों का उपयोग करता है। इसलिए प्रथमत. वह काव्य है, फिर दृश्य काव्य/नाटक, अच्छा साहित्यिक नाटक रंगमंच के लिए भी एक संपत्ति होता है। साहित्यिक तत्त्व नाटक को अभिव्यक्तिपूर्ण बनाता है। इसीलिए रंगमंच में 'कवि' (नाटककार) महत्त्वपूर्ण हो जाता है और रंगमंच जिस जीवन की अनुभूति उभारता है, उसका असली सर्जक वही होता है। रंग तत्त्वों का प्राथमिक स्रष्टा भी वही है और रंग सम्भावनाओं के लिए आधार प्रस्तुत करने में भी उसका अपना योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। समझने की बात इतनी ही है कि नाटक की साहित्यिकता केवल शब्दों में नहीं— भावों, स्थितियों, पात्रों और जीवन-दृष्टि की गहराई में निहित होती है। नाटक की सच्ची साहित्यिकता उसकी भावभूमि के साथ कथ्य, कथानक, चरित्र, संरचना आदि पर निर्भर करती है। किन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि नाटक की साहित्यिकता तभी तक अर्थवान् है जब तक वह रंगमंचीय तत्त्वों से परिपूर्ण है। इसलिए नाटक न केवल साहित्य है और न केवल रंगमंचीय तत्त्व ही नाटक

है। इतना निश्चित है कि नाटक एक साहित्यिक रचना है; किन्तु इसके साथ ही उसकी एक आवश्यक शर्त यह भी है कि उसे प्रेक्षक के आस्वाद के लिए एक विशिष्ट रंगीय मुहावरे में ढलना होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसमें दोनों का समन्वय जरूरी है। शब्दमयी रचना को एक साथ नाटकीय भी होना चाहिए और रंगमंचीय भी। इसीलिए नाटक, रंगमंच और प्रेक्षक इस सारी प्रक्रिया में एक त्रिकोण बनाते हैं। आज का नाटककार रंगमंच के प्रति जागरूक है। अपनी कृति के विधान में वह रंगीय अनुभव का सन्निवेश करता दिखाई देता है। रंगमंच को लेकर उसके मन में यदा-कदा जो असंतोष मुखर होता है, उसका निदान यही है कि वह अपने लेखन में ऐसे सजीव बिम्बों की सृष्टि करे जो रंगक्षमता को उभारने में सहायक हों, रंगमंच की रिक्तता को भरने के लिए एक ऐसी स्थूल भौतिक भाषा को ढूँढे जो प्रेक्षक के इन्द्रिय-बोध को छूये। पर इसका अर्थ यह नहीं कि नाटककार रंगमंच का शिल्पी बनकर रह जाये। नाटककार रंगमंच की सर्जनात्मक क्षमताओं से परिचित हो, यह आवश्यक है; पर अधिक विशेषज्ञता उसके मार्ग में बाधक भी हो सकती है। शेक्सपियर, मोलियर, ब्रेख्त आदि ने दोनों क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई; किन्तु रंगमंच के अत्यधिक ज्ञान ने बहुत से नाटककारों की प्रतिभा को कुंठित करके भी रख दिया। इसलिए रंगमंच में सक्रिय ग्रस्तता की अपेक्षा नाटककार की कल्पना-शक्ति का भी कम योग नहीं होता। इसी के सहारे कई समर्थ नाटककार रंगमंच से एक साथ दूरी और निकटता का सम्बन्ध निभाते रहे हैं।

एक अच्छा नाटककार इस उद्देश्य की सिद्धि कई प्रकार से करता है। वह रंगमंच की अवधारणा में कई प्रभाव ग्रहण करता है। इन प्रभावों में प्रेक्षक की पहचान भी एक है। नाटक लिखा और खेला ही उसके लिए जाता है। बिना प्रेक्षक के नाट्य-प्रदर्शन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। किन्तु प्रेक्षक पर नाटक और रंगमंच की यह निर्भरता कई समस्याएँ पैदा करती है। प्रेक्षक को किसी भी अर्थ में नाटककार, अभिनेता और सज्जाकार की भाँति नाट्य का सहयोगी कलाकार नहीं माना जा सकता। इसके साथ ही उसकी रुचि, सहृदयता, बौद्धिक पकड़ आदि का प्रश्न भी उठता है। डब्ल्यू० बी० येट्स का कहना था कि वे रंगमंच की जरूरत तो महसूस करते हैं पर गलत लोगों के पीछे बैठना पसंद नहीं करते। व्यावसायिक थियेटर पर प्रेक्षक की रुचि का दबाव इतना रहा है कि उसकी निरंकुशता ने नाटककार को या तो बाँध कर रख दिया या विद्रोह के लिए विवश कर डाला। इसीलिए प्रेक्षक रंगमंच तो दे पाये, पर ऊँचा नाटककार वे कभी नहीं दे पाए। रंगमंच और प्रेक्षक सदा अच्छे नाटककार से बहुत पीछे रहे हैं। इसीलिए मंचीय सिद्धि और नाटक

की उन्नति के लिए वे अल्पसंख्यक प्रेक्षक चाहिए जो नया संस्कार दे सकें या रंगमंच का कलात्मक दायित्व स्वीकार कर सकें, केवल रवीन्द्र रंगशालाएँ खोल देनी ही काफी नही है। उनके लिए प्रेक्षक, रंगकर्मी और नाटककार की पाँत भी खड़ी करनी होगी।

नाटक और रगमंच दोनों का स्रोत सामाजिक है। सामाजिक उथल-पुथल और सघर्ष में इनका महत्वपूर्ण योग रहा है। नाटक को उस तल तक उठाने की जरूरत है, जहाँ ब्रेख्त के शब्दो मे, वह अदालत की दलीलो की तरह कारगर हो जाता है और प्रेक्षक को फैसले तक पहुँचने मे मदद करता है। नाटक और रंगमंच को शक्ति का स्रोत, एक प्रकाश का स्तंभ बनना होगा। अंतोनिन अर्तो के शब्दों मे कहे तो उसे मनोवैज्ञानिक नही आधिभौतिक स्वरूप ग्रहण करना होगा।[1] इस उपलब्धि के बाद ही नाट्य को जनता तक या जनता को नाट्य तक ले जाना सार्थक होगा। नाट्य चाहे अल्पसंख्यको का हो या जन-जन का, उसकी उपलब्धि के आयाम उसके परिष्कार मे ही निहित हैं।

परिष्कार की दिशा मे नाटक और रंगमंच दोनों का एक साथ चलना जरूरी है। नाटककारो की शिकायत रहती है कि कलात्मक उपलब्धि मे रंगमंच पीछे रह जाता है, नाटक आगे बढ जाते हैं। रगकर्मियों को कहना पडता है कि उन्हे खेलने के लिए उन्हें अच्छे नाटक ही नही मिलते। हिन्दी के बारे मे तो यह बात मशहूर है कि उसमे नाटक लिखे ही नहीं जाते। इस खाई को भरना जरूरी है। रंगमंच के अभाव मे नाट्य लेखन कुंठित हो जाता है और नाट्य लेखन के अभाव मे रंगमच की क्षमताएँ उपयोग में आने से रह जाती हैं। कुछ अलग पहलू भी हो सकते हैं जिनमे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक अथवा सास्कृतिक स्थितियो को गिनाया जा सकता है; किन्तु जो बात सर्वोपरि है वह है—उन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध। रगमच और नाटक का विकास एक-दूसरे से जुडा हुआ है।

१. अतोनिन अर्तो : थियेटर ऐण्ड इट्सडब्ल, पृ० ३३

रंगमंच : एक अनुभूति एक सृष्टि

२

कला की जो भी परिभाषा हो, उसके दो तत्त्वों को सहसा झुठलाया नहीं जा सकता : एक आत्माभिव्यक्ति और दूसरा अभिव्यक्ति का संप्रेषण। आत्माभिव्यक्ति सर्वथा कला ही हो, यह कहना मुश्किल है, किन्तु इतना निश्चित है कि वह एक स्वतःप्रसूत स्व-प्रवर्तित प्रक्रिया है; जबकि संप्रेषण, विशेषतः आज के युग में, एक सुनियोजित पद्धति की अपेक्षा रखता है। वह युग बीत गया जब कला कला के लिए होती थी और वह कलाकार या छोटे दायरे तक सीमित रहती थी। अब कला व्यक्ति से समूह तक पहुँचने के लिए संप्रेषण के उपादानों की अधिक निर्भर दिखाई देती है। इसीलिए आज नाटक लिख देना काफी नहीं है; उसे प्रेक्षक तक पहुँचाना भी अनिवार्य है। यही संप्रेषण के उपादान के रूप में रंगमंच का महत्त्व सिद्ध होता है।

साहित्य के क्षेत्र में कविता, कहानी, उपन्यास आदि का संप्रेषण मुख्यतः आज मुद्रण के द्वारा होता है। किन्तु जहाँ तक नाटक का सवाल है उसके संप्रेषण का अपना एक अलग ढंग है जो अन्य विधाओं से बिल्कुल भिन्न है। नाटक रंगमंच के माध्यम से ही संप्रेषित होता है। यही वैशिष्ट्य उसे अन्य साहित्य विधाओं से अलग खड़ा कर देता है।

सबसे बड़ी भ्रांति यह है कि नाटक को केवल एक साहित्य-विधा के रूप में लिया जाता रहा है। प्रारम्भ में यह बात नहीं थी। भरत ने 'नाट्य' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया है और तब नाट्यकृति, रंग-शिल्प और मंचन सभी कुछ उसके अन्तर्गत माना जाता था। अभिनय नाटक की मूल शर्त थी—जब इन्द्र आदि देवता ब्रह्मा के पास गये तो उन्होंने नाटक पढ़ने के लिए नहीं वरन् खेलने के लिए माँगा था : क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्। वस्तुतः नाटक के उद्‌भव और विकास में साहित्यिक वैशिष्ट्य कभी भी अनिवार्य तत्त्व नहीं रहा। नाटक की साहित्यिक मूल्यवत्ता का निश्चयतः अपना

महत्त्व है, और नाटक कुछ और होने से पहले एक साहित्यिक कृति है; फिर भी उसका साहित्य हो जाना ही नाटक हो जाने का प्रमाण नहीं है। प्रायः महान् कवियों द्वारा कभी ऐसे 'नाटक' लिखे जाते रहे है जो रंगक्षमताओं से शून्य हैं। ऐसी नाट्यकृतियाँ क्या नाटक कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकती है ?

प्रश्न उठता है नाटक रंगमंच के लिए ही क्यों लिखे जाएँ ? रंगमंच के बिना भी क्या नाटक की स्थिति सम्भव ही नही ? उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि नाटक की प्रवृत्ति ही ऐसी है। इसीलिए उसे दृश्यकाव्य कहा जाता है। यह एक ऐसी विधा है जिसमे शब्द की अपेक्षा दृश्यत्व और कार्य-व्यापार मुख्यता ग्रहण कर लेता है। नाटक, चाहे पूर्व मे हो या पश्चिम मे, सर्वत्र अपने आविर्भाव मे धार्मिक क्रिया-कलाप से जुड़ा रहा है। इसमे अनुकरण और पूर्व-क्रिया को दोहराने की प्रवृत्ति भी शामिल है। मानवीय क्रिया-कलाप मे, वस्तुतः, नाटक से भी पहले रंगमंच विद्यमान था। नाटक ने रंगमंच पर ही पूर्णता और रूप प्राप्त किया है। यहाँ तक कि जो नाटककार रंगमंच को महत्त्व नही देते, वे भी नाटक को लिखते हुए उसे मन की आँखो के सामने अभिनीत होते देखते है और इस सत्य से भली भाँति अवगत होते हैं कि अपनी कृति के संप्रेषण के लिए उन्हे वह यन्त्र सर्वथा अपेक्षित है जिसे सामान्यतः रंगमंच के नाम से पुकारा जाता है।

'रंगमंच' शब्द का प्रयोग व्यापक और सीमित दोनों अर्थों मे किया जाता है। अंग्रेजी मे इसके लिए दो शब्द प्रयोग मे आते रहे है—स्टेज और थियेटर। 'स्टेज' शब्द प्रायः नाट्य मंडप अथवा रंगशाला के लिए प्रयुक्त होता है। बहुत खीचतान करने पर इसका जो चित्र उभरता है उसमे नाट्य मंडप, दृश्यबंध, यवनिका, प्रकाश योजना, अभिनेता, टिकट घर, सज्जागृह, प्रेक्षागृह आदि आते हैं। वस्तुतः 'स्टेज' शब्द रंगमंच के दृश्य स्थूल पक्ष को ही अधिक व्यंजित करता है। किन्तु रंगमंच बाहर से स्थूल भले ही हो, उसका एक जटिल आन्तरिक सूक्ष्म स्वरूप भी है। बाह्य स्थूल रूप उस आन्तरिक सूक्ष्म स्वरूप की उपलब्धि का साधन मात्र है। अंग्रेजी का 'थियेटर' शब्द रंगमंच के स्थूल और सूक्ष्म दोनों अंगों को अभिव्यक्त करता है। थियेटर के अन्तर्गत रंगभवन और उसके स्थूल उपादान ही नहीं आते, वरन् नाट्य कृति और समस्त रंगकर्म, उसकी रूढ़ियाँ और प्रदर्शन मे निहित शिल्प, भाव-बोध और सर्जनात्मक धरातल भी उसी मे सम्मिलित है। वस्तुतः थियेटर अपने मे एक पूरी संस्था, एक पूरा सर्जनात्मक अभियान है और उसके कई आयाम और भावभूमियाँ है। एक ओर नाट्यकृति है जो रंगमंच के लिए आधार प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर निर्देशक, अभिनेता, दृश्य अभिकल्पक आदि की मंचीय सृष्टि है, प्रस्तुतीकरण

का एक समूचा भाव-चित्र है जिसे प्रेक्षक के सामने लाया जाता है। और इस भाव-सृष्टि मे प्रेक्षक भी एक नगण्य तत्त्व नही है। वस्तुतः सारे आयोजन और सर्जन का भोक्ता, प्रमाता वही है। उसके बिना नाटक या रंगमंच का कोई अर्थ नही। रंग-कर्म के इन विभिन्न आयामो के कारण रंगमंच एक विलक्षण सम्बन्धसूत्रता के बीच जन्म लेता है और कला के अनेक आयामों से संयुक्त हो जाता है। 'थियेटर' शब्द रंगमंच की इसी व्यापक अवधारणा को उजागर करता है।

भरत ने 'नाट्य' शब्द का इसी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। उन्होंने कुछ श्लोकों में (नाट्यशास्त्र १।१०६-११६) नाट्य के विविध आयामो का विवेचन करते हुए स्पष्ट लिखा है कि नाट्य मे सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण है : त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्। नाट्य अनेक प्रकार के भावों और अवस्थाओ से युक्त है। यह रस, भाव, कर्म तथा क्रियाओ के अभिनय द्वारा लोक को सुख और शान्ति देनेवाला है और सबसे बड़ी बात यह है कि न कोई ऐसा ज्ञान है, न कोई शिल्प, न कोई कला, न कोई विद्या, न कोई कार्य जो नाट्य में विद्यमान न हो :

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यति॥

किसी भी कला का उद्देश्य होता है—इंद्रिय संवेदनाओ को जगाना। नाट्य-कला अपनी सर्जन-प्रक्रिया में दुहरे स्तर पर सक्रिय होती है—अपने पहले स्तर पर वह रचयिता की अनुभूति से सम्बद्ध होती है और दूसरे स्तर पर उसे प्रेक्षक को अनुभूति कराना होता है। यह कार्य रंगमंच के माध्यम से होता है, पर रंगमंच माध्यम मात्र नही। नाट्यकृति और रंगमच किसी बिन्दु पर एक हो जाते हैं अपनी अनुभूति मे और अभिव्यक्ति मे भी। इसीलिए 'थियेटर' या 'नाट्य' सीमित अर्थों की सज्ञाएँ नही हैं। अर्थ का जो विस्तार इन शब्दों में निहित है वह रंगमच शब्द मे नही है। दुर्भाग्य से अब 'नाट्य' शब्द का अर्थ सीमित हो गया और 'रंगमच' शब्द का अर्थ-विस्तार नही हो पाया।

नाट्यशास्त्र में नाट्यकृति और नाट्य प्रयोग दो भिन्न तत्त्वो के रूप मे समाहित नही हैं। वस्तुतः उसमे निहित सारा शास्त्र अभिनय पक्ष से सम्बन्धित है। यह प्रयोक्ता को इस बात का निर्देश देता है कि नाट्यकृति को किस प्रकार भावों के बिम्ब-रूपों मे परिणत किया जा सकता है। रसों, भावों, संचारी भावों, मुद्राओं, अंगहारों से सम्बद्ध सारी चर्चा एक सशक्त संप्रेषण के लिए रंगकर्मी और प्रेक्षक के बीच गहरा सम्बन्ध जोड़ती है। इसी प्रकार आहार्य और वाचिक अभिनय के सन्दर्भ मे भी रंगमंचीय पक्ष को विशेष महत्त्व दिया गया है।

इस प्रकार रंगमंच अपने स्थूल में एक स्थान, एक भवन, एक मंडप है। अपने इस स्वरूप में भी इसमें कम विविधता नहीं है। पर सबसे विचित्र बात यह है कि इस रूप में भी यह कई ऐसे गुणों, भावनाओं, स्पन्दनों से जुड़ा है कि यह प्रेक्षक के मन में एक जादू जगाये बिना नहीं रहता। यदि स्थान का अपना जादू है तो उसमें होने वाले रंगकर्म का भी कम जादू नहीं है। अभिनय, दृश्यसज्जा, प्रकाश-निरूपण, यहाँ तक कि प्रेक्षकों की सामूहिक मनःस्थिति सबका उसमें अपना-अपना योगदान होता है। शेक्सपियर ने रंगकर्म को, प्रकृति को दर्पण दिखाना जैसी क्रिया माना था—यदि इसे दर्पण कहें तो चमत्कारी दर्पण कहना ही उचित होगा।—ऐसा दर्पण जिसमें मानव के युग-युग के भावों और संस्कारों की छवि समाहित होती है।

वस्तुतः रंगमंच नाटक से भी पुराना है। रंगमंच मानव-जीवन की आदिम प्रवृत्ति है। प्राचीन महोत्सवों, धार्मिक अनुष्ठानों और कृत्यों में मनुष्य ने उसे उपलब्ध किया है। इसीलिए इसे चाक्षुष यज्ञ कहा गया है। किन्तु बात इससे भी और गहरी है : नाट्य की सारी प्रवृत्ति मानव-मन में बहुत गहराई से पैठी हुई है। क्रीड़ा मानव की एक सनातन प्रवृत्ति है। और जैसा कि डॉ० रघुवंश ने कहा है : 'प्रथम परिस्थिति में प्रारम्भिक प्रवृत्तियो तथा अन्तर्निहित शक्तियों के आधार पर बहिर्जगत् की नाना रूपात्मकता के प्रभावों के अनुकरण में क्रीड़ा का जन्म हुआ है। इस क्रीड़ा में सुखानुभूति सन्निहित है। दूसरी परिस्थिति में पूर्व सुखानुभूति स्वयं आधार हो जाती है और उस पर पूर्व प्रवृत्तियों के प्रभाव का अनुकरण क्रीड़ात्मक हो जाता है। यह क्रीड़ा ही स्वानुकरण है। फिर यह स्वानुकरण ध्यान और धारण के सहारे कल्पना के क्षेत्र में आवश्यक उपकरणों की सहायता से मानसिक अनुकरण का रूप धारण करती है। और इसी मानसिक अनुकरण मे कला की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है।'[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाह्य जगत् के दृश्यों का आन्तरिक ग्रहण और फिर उनको रूपान्तरित कर पुनः सृष्टि करना मानव की सामान्य प्रवृत्ति है। नाटक और रंगमंच का आविर्भाव अनुकरण, चित्रण तथा पूर्व-क्रिया को दोहराने की प्रवृत्ति मे निहित है। अपने मे यह एक ऐसी सर्जनशील क्षमता रही है, जिसका अहसास मानव को बहुत बाद में हुआ होगा और उसी से फिर एक दिन इस क्षेत्र में जागरूक प्रयास का प्रारम्भ हुआ होगा। तब बहुत कुछ अनुष्ठान और कृत्य पृष्ठभूमि में चला गया—वह सारा अंश जो धर्म से सम्बन्धित था और विशुद्ध नाटक और विकसित रंगमंच उभरकर सामने आया होगा।

१. डा० रघुवंश : नाट्य कला, पृ० १६

रंगमंच मानव की सर्जन प्रवृत्ति का क्रीड़ा-रूप है। बाह्य जगत् के बीच अपने रचे संसार में जीवन को अनुभूत करने, उसे पुनः रचने का मूल भाव मनुष्य में निरन्तर निवास करता है। यह मूल भाव ही उसे और उसके निर्मित रंग-संसार को अनुभूति से जोड़ देता है। यहीं रंगमंच कोई स्थूल वस्तु न रहकर एक भाव, एक अनुभूति बन जाता है।

रंगमंच नाटक के सम्प्रेषण का एक माध्यम है; पर यह सम्प्रेषण सीधा नहीं है, संवेदनात्मक है। वह एक जीवंत विधा है; देश और काल की सीमा में वह जीवित का आभास देती है। इसीलिए वह जीवन-सदृश है। इस जीवन को वर्णित नहीं केवल संवेदित किया जा सकता है। रंगमंच भावों को अभिव्यक्त और सम्प्रेषित करता है—उन सब भावों को जो चेतना को स्पन्दित करते हैं और ऐन्द्रिय संवेदनों को जगाते हैं। क्रोध, घृणा, भय, प्रेम के बहुत से सूक्ष्म संवेदन जो काव्य और साहित्य की अन्य विधाओं द्वारा अनकहे रह जाते हैं, वे भी रंगमंच पर साकार हो उठते हैं और प्रेक्षक में भी समान अनुभूति जगाने में सक्षम सिद्ध होते हैं। तभी हाव-भाव, मुद्रा तथा भंगिमा के द्वारा रंगमंच जीवन की गहरी अनुभूति कराता है।

वस्तुतः रंगमंच अपने व्यापक अर्थ में अनुभूति पर ही आधारित है। स्वयं नाट्य-रचना के लिए एक तीव्र अनुभूति अपेक्षित होती है। अपनी रचना-प्रक्रिया में 'नाटक मूलतः काव्य का ही एक प्रकार है जिसमें सार्थक और महत्त्वपूर्ण अनुभूति की सूक्ष्म, संवेदनशील और गहन अनुभूति की आवश्यकता है।'''वास्तव में नाट्यात्मक अनुभूति एक विशेष प्रकार की तीव्रतम काव्यात्मक अनुभूति ही है जिसमें संवेदनाओं, भावों और विचारों के अधिक प्रत्यक्ष और दृश्य रूपों का संयोजन होता है।'[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य और नाटक के कलात्मक उपादान भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु नाटक भी काव्य की तरह अनुभूति में चेतना के गहन स्तरों से जुड़ा होता है। नाटककार की अपनी अनुभूति उसे नाट्य कृति की सर्जना की ओर ले जाती है और रंगमंच भी अपने सर्जन में एक प्रकार से उसी अनुभूति को प्रेक्षकों तक पहुँचाने का माध्यम बनता है। पर प्रेक्षक में अनुभूति जगाने से पूर्व वह स्वयं रंगकर्मियों की अनुभूति बनता है। इस प्रकार रंगकर्म स्वयं एक अनुभूति है और रंगमंच एक अनुभूत जीवन का स्वप्निल बिम्ब प्रस्तुत करता है। मंच पर दृश्यबंध, अभिनय, प्रकाश सब उसी एक अनुभूति से जुड़ जाते हैं और एक ऐसी बिम्बों की पाँत खड़ी कर देते हैं जो जीवन को अपने में एक पूरी तस्वीर रचकर रख देते हैं।

१. नेमिचन्द्र जैन : रंगदर्शन, पृ० २६

अनुभूति केवल अनुभूत विषयों या पदार्थों का ढेर नही है, वह एक प्रकार का संरचनात्मक उपादान भी है। वस्तुतः अनुभूति ही भावो और बिम्बो को रूप देती है; कृति को एक ढांचा प्रदान करती है; और फिर वस्तु रूप मे कृतिकार के सामने खड़ी हो जाती है। नाटककार अपनी शब्दार्थमयी योजना से प्रसंगों, पात्रों, स्थलों, स्थितियों और अनुभवों की परिकल्पना करता है। इस परिकल्पना मे उसकी अपनी अनुभूति का तत्त्व सक्रिय रहता है। वह जिस कथा-वस्तु को चुनता है, जिन चरित्रों और क्रिया-व्यापार के माध्यम से उसे आगे बढ़ाता है, वह अपनी एक भाव-सृष्टि करती है। प्रायः यह कहा जाता है कि साहित्य अभिव्यक्ति का माध्यम है। क्या नाटक को नाटककार की अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है ? नाटककार अपनी अनुभूति से ही अपनी कृति का सर्जन करता है, इसमे कोई सन्देह नही, पर उसकी अभिव्यक्ति आत्मपरक नहीं होती। नाटकीय अनुभूति को नाट्यरूढ़ियों की सीमा के अन्दर ढलना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अनुभूति के लिए भोगा हुआ यथार्थ ही एकमात्र तत्त्व नही—कल्पना, भाव-प्रवणता, संवेदनशीलता, युग-बोध सभी उसके उपकरण हैं जिन्हें नाटककार अपने सर्जन के लिए जुटाता है। नाटककार कथावस्तु, चरित्र और कार्य के माध्यम से अनुभूति को वस्तुगत वास्तविकता प्रदान करता है। इस प्रक्रिया मे उसका मुख्य उद्देश्य यही होता है कि प्रेक्षक उसके बीच से गुजर सके। जैसा यह स्वयं अनुभव करता है, प्रेक्षक भी वैसा ही अनुभव करे। नाट्य की सार्थकता इसी में है और इसी बात को ध्यान में रखकर नाटक के संदर्भ में भाव, विभाव, संचारी भाव और रस की चर्चा की गयी है। सचाई यह है इन सब की यौगिक उपलब्धि प्रेक्षक को प्रभावित करती है। नाट्यशास्त्र (१/१०८-११५) में इसीलिए उसको प्रेक्षक के लिए उपकारक तत्त्व कहा गया है :

> नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।
> त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥
> क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीड़ा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः।
> क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः ॥
> धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
> निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया ॥
> क्लीबानां धाष्ट्र्यंजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
> अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ॥
> ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च।
> अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम् ॥

नाटक और रंगमंच का लक्ष्य प्रेक्षक ही है। इस लक्ष्य की सिद्धि रसानुभूति

में है। इसमें नाटककार का ही नहीं परिचालक, सज्जाकार और अभिनेता सभी का अपना-अपना योगदान होता है। वे सब मिलकर नाट्यानुभूति को रूपायित करते हैं—वही उन सबको एक सूत्र में बाँधती है और फिर एक सम्मिलित कलात्मक प्रयास के द्वारा प्रेक्षक के हृदय में भी भावना की लौ जगाती है।

शेल्डान चेनी ने ठीक ही कहा है, 'संसार में यदि कोई बौद्धिक कला जैसी कोई चीज हो भी तो स्मरण रखना चाहिए कि रंगमंच की कला उससे कोसों दूर है। उन शान्त, अद्भुत तथा अत्यन्त ही अलौकिक क्षणों में, जब बुद्धि का कार्य गौण हो जाता है और दर्शक की आत्मा में घुल-मिल जाती है, तभी रंगमंचीय कला के वास्तविक वैभव, जीवन अथवा प्राण का आभास मिलता है। यह बात अनेक बार कही जाती है कि क्रिया नाटक की आत्मा होती है और रंगमंच पर नाटकों के प्रदर्शन में भी वही एक ऐसी चीज है जो सर्वाधिक अनिवार्य है। किन्तु नाटक की इस क्रिया की परिभाषा को और भी विस्तृत करना होगा, उसमें इन्द्रियों को उत्सुक करने वाले उन विशेष गुणों का भी समावेश मानना होगा जो अन्ततोगत्वा दर्शक को नाटक के चरम क्षणों तक ले जाते है।'[1] वस्तुतः ये क्षण ही रंगमंच पर प्रेक्षक के लिए अनुभूति के क्षण होते हैं।

यह ठीक है कि नाट्य एक जटिल कला है और लेखन से लेकर प्रदर्शन तक उसमें कई कलाओं का योग होता है, फिर भी नाट्य का अनुभव, सर्जन और आस्वाद खण्डित न होकर अखण्ड होता है। इसीलिए रंगमंच पर कृति, नाट्य प्रदर्शन, अभिनय, कथावस्तु, वेशभूषा किसी पर भी अलग-अलग ध्यान नहीं जाता। मंच पर सब कुछ एक हो जाता है, सब की विशिष्टता विस्मृत हो जाती है और सब एक रूप होकर भावाभिव्यक्ति के साधन बन जाते हैं। जो प्रेक्षक स्थूल को नही भुला पाते, वे दहलीज पर रह जाते हैं। रंगमंच की आत्मा कहीं बहुत अन्दर निवास करती है। यह आत्मा स्थूल नहीं, सूक्ष्म और भावमयी है। यह अनुभूति की कई परतों से निर्मित होती है। इस पर नाटककार, रंगकर्मी, प्रेक्षक सबका अधिकार है। नाटककार नाटक रचता है तो रंगकर्मी शब्दार्थमयी परिकल्पना को प्रेक्षक के सीधे इन्द्रिय बोध के लिए उसे श्रव्यत्व और दृश्यत्व प्रदान करता है। नाट्य कृति कल्पना मात्र से अनुभूति जगाती है, रंगमंच पर वह देश-काल की सीमा में एक जीवन्त अनुभव के रूप में सामने आती है। नाटककार शब्दों की योजना करता है, रंगकर्मी देश-काल और भावों के बिम्ब निर्मित करते हैं। इस प्रकार दोनों मानवीय संवेदना को

१. शेल्डान चेनी : रंगमंच (अनुवाद: श्री कृष्णदास) पृ० ५८०-८१

पैदा करते हैं। रंगमंच की पूर्णता इस बात मे है कि वह आन्तरिक तत्त्व को बाह्य रूपान्तर प्रदान करता है। वह अदृश्य और अश्रव्य को दृश्य और श्रव्य रूप देता है और इसी बिन्दु पर रंगमंच एक सृष्टि बन जाता है।

रंगमंच पर सृष्टि बिम्बो के माध्यम से होती है। इन्ही के द्वारा रंगमंच साकार होता है और प्रेक्षक के प्रत्यक्ष-बोध के लिए जीवन का जीवन्त चित्र उभरता है। यह चित्र वास्तविक न होकर वास्तविकता का भ्रम पैदा करता है। उसका महत्त्व यथार्थ की दृष्टि से उतना नही होता जितना कला की दृष्टि से। रंगमंच पर अभिनेता का शरीर, वेशभूषा, मुख-सज्जा सब कुछ प्रतीयमान व्यक्ति को सर्जित करते हैं। इसी प्रकार लकड़ी, कनवैस, रंग या प्रकाश देश और काल का आभास पैदा करते हैं और संवाद असली बातचीत का रूप ग्रहण करते है। रंगमंच पर इस बात का ध्यान नही रहता कि घर किस चीज़ का बना है या अभिनेता ने जो दाढ़ी-मूंछ पहन रखी है, वह नकली है। रंगमंच की कला वस्तुतः प्रतीति की कला है। पर इस प्रतीति का लक्ष्य प्रवंचना नहीं। प्रेक्षक इस माया से परिचित होता है यद्यपि वह इसे वास्तविक मानकर चलता है। प्रेक्षक नाटक देखने यह सोचकर नहीं जाता कि उसे वास्तविक जीवन देखने को मिलेगा। रंगमंच की कला का मूल आधार ही यह है कि यह वास्तविक नही; वास्तविकता के भ्रम पर आधारित है। यह जो सृष्टि करती है वह प्राकृतिक नहीं है, निर्मित है और मानवीय भावनाओं की वस्तुगत अभिव्यक्ति पर निर्भर है। इसीलिए रंग-सृष्टि में प्रेक्षक की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। प्रेक्षक रंगमंच के क्रिया-व्यापार को देखता मात्र नहीं है, वह उसका बोध भी प्राप्त करता है। देखना एक सामान्य क्रिया है, किन्तु प्रत्यक्ष बोध के लिए प्रतिमा अनिवार्य है। रंगमंच पर जो सृष्टि की जाती है वह प्रेक्षक को ध्यान मे रखकर की जाती है कि वह उसे देखे ही नही, वरन् 'फोकस' में इस तरह देखे कि वह प्रक्षेपित हो सके। यह स्थिति ही रंगमंच पर एक दूसरे किस्म की वास्तविकता को जन्म देती है।

रंगमंच की सृष्टि जीवन की भांति (स्थिर न होकर) गतिशील होती है। जिस तरह जीवन विभिन्न स्थितियों से गुजरता हुआ अन्त तक पहुँचता है, उसी प्रकार नाटक का घटनाक्रम एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक विकसित होता हुआ आगे बढ़ता है। इसमें कोई भी क्षण कभी फिर लौटकर नहीं आता। सब कुछ जैसे उसमे वर्तमान मे घटित होता है। जो पहले घट चुका है, या जो भविष्य मे घटेगा, वह महत्त्व रखता है; पर सारा क्रिया-व्यापार वर्तमान में ही उजागर होता है। और सब कलाएँ स्थिर हैं; पर रंगमंच गतिशील होता है। और कलाएँ सुरक्षित रखी जा सकती हैं; किन्तु रंगमंच हर सुबह को मर जाता है, हर रात को उसे फिर नये सिरे से पैदा होना पड़ता है। प्रदर्शन

पर ही रंगमंच की कला निर्भर करती है और हर नये प्रदर्शन पर रंगमंच पर एक नयी सृष्टि होती है। प्रदर्शनकारी कला होने के नाते रंगसृष्टि काव्य, चित्र या मूर्ति की भाँति स्थायी नहीं होती।

रंगमंच की कला ही नहीं, शिल्प भी होता है। रंग को कला को रूपायित करने के लिए कई कौशलों तथा उपायों की आवश्यकता होती है। किन्तु न कौशल को और नाट्यरूढ़ियों को ही कला कहा जा सकता है। शिल्प कई हैं, पर नाट्य कला या रंगमंच की कला एक ही है। और उसका मूल आधार है अनुभूति की वस्तुगत अभिव्यक्ति तथा सृष्टि।

रंगमंच क्या है ? यह प्रश्न अपने-अपने ढंग से उत्तरित होता रहा है। रॉबर्ट एडमण्ड जोन्स के शब्दों में 'कुछ लोगों का कहना है कि यह एक मन्दिर है तो कुछ लोगों का यह कि यह एक वेश्यालय है; कुछ लोग इसे एक प्रयोगशाला या कार्यशाला मानते हैं तो कुछ लोग कला या खेल।'[1] हर युग में रंगमंच की एक परिभाषा रही है। पश्चिम में उसकी परिभाषा का पुरातन युग में कोई प्रश्न नहीं उठा। अरस्तू ने उसकी चिन्ता नहीं की; किन्तु हमारे नाट्यशास्त्र में रंगमंच के स्वरूप और कार्य पर विस्तृत चर्चा मिलती है। भरत मुनि की दृष्टि लौकिक और आध्यात्मिक दोनों थी। इसीलिए नाट्य एक ओर अनु-कीर्तन है तो दूसरी ओर वह यथार्थ और आभास का साक्षात् अनुभव तथा अनेक कलाओं और विद्याओं से युक्त सर्जन है। सौभाग्य से पश्चिम की कला-दृष्टि में अब क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है और हमारा भारतीय कला-चिन्तन अब निरन्तर महत्त्व अर्जित करता जा रहा है। इसीलिए रंगमंच को लेकर आज विश्व में जो दृष्टि बन रही है वह यह स्वीकार करती है कि स्थूल सत्य की उपलब्धि मात्र रंगमंच का लक्ष्य नहीं है। उसका एक आन्तरिक पक्ष भी है जो विशेष महत्त्व रखता है। रंगमंच जीवन का दर्पण मात्र नहीं है। वह जीवन की अनुकृति नहीं—वह जीवन का सामग्री की भाँति उपयोग करता है। वह जिस जीवन की सृष्टि करता है वह मायिक या जादुई होती है। उसे काव्यात्मक कहना शायद ज्यादा उपयुक्त होगा। रंगमंच अनेक माध्यमों से इन्द्रिय संवेगों की जीवन्त कविता रचता है। वह हमें एक ऐसा अहसास कराता है जिसे एक-दम धार्मिक तो नहीं कह सकते, पर जो उस जैसा अवश्य कहा जा सकता है।

१. रॉबर्ट एडमण्ड जोन्स : ड्रैमेटिक इमैजिनेशन, पृ० २१

किसी एक तत्त्व या चीज का नाम रंगमंच-कला नहीं है। रिचर्ड साउदर्न का कहना है[1] कि रंगमंच प्याज के दाने की तरह है; उसके एक-एक छिलके को निकालते जाइए तो लगेगा कि यही रंगमंच कला है याने कभी दृश्य सज्जा, कभी संवाद और कभी अभिनय। एक छिलके को अलग छीलते जायँगे तो रंगमंच का सही स्वरूप हाथ नहीं लगेगा। रंगमंच की कला तो सम्पूर्ण वस्तु है और उसी मे उसका सार-तत्त्व निहित है। हमने कहा रंगमंच एक अनुभूति है, एक समन्वित कला है, संप्रेषण का एक साकार माध्यम है। किन्तु रंगमंच इतना ही नहीं है वह कृति ही नहीं, क्रियमाण भी है। वह स्वयं एक कार्य है। एक सर्जनात्मक कला से भी अधिक एक प्रदर्शनकारी कला, एक कार्यकारी कला है। फिर भी रंगमंच की कला की महानता न प्रदर्शन में निहित है, न प्रदर्शन की प्रणाली में, बल्कि उस प्रभाव में है जो कोई प्रदर्शन अपनी प्रणाली के कारण प्रेक्षक छोड़ जाता है। इसीलिए रंगमंच की कला क्रिया की नहीं, प्रतिक्रिया की भी कला है।

१. रिचर्ड साउदर्न : 'सेवन एजेज आव थियेटर', पृ० २१

रंगमंच की कला : स्वरूप और आयाम

३

रंगमंच की कला एक विलक्षण कला है। यह दृश्य और श्रव्य माध्यमों, दिक् और काल के आयामो तथा विविध कलाओं के योग से अपनी सृष्टि करती है। बहुत बार इसीलिए आलोचक इसे विशुद्ध कला न मानकर उपेक्षित करते हैं या द्वितीय श्रेणी की कला घोषित कर इतिश्री कर देते है।

पश्चिम के लोग नाट्य कला के स्वरूप-निर्धारण के लिए अभी तक अरस्तू पर निर्भर हैं। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि २००० वर्ष पुरानी स्थापनाओ का ही फिर-फिर से चर्वण होता जा रहा है जबकि उन स्थापनाओं के पीछे कही भी रंगतत्व का दाय स्वीकार नही किया गया है। सौभाग्य से भारतीय आचार्यों की दृष्टि नाट्य कला के व्यापक आयामों पर रही, जिसके अन्तर्गत नाना भाव-सम्पन्न इतिवृत्त, अनुकरण रूप प्रदर्शन और रस-भोक्ता दर्शक सभी को सम्मिलित किया गया। अरस्तू का काव्य सिद्धान्त नाट्य कृति को ही अपने मे एक पूर्ण कला मानता है। इस भ्रान्ति के कारण या तो नाटक की कला और रंगमंच की कला को अलग-अलग मान लिया गया या फिर कला की ऐसी परिभाषाएँ ही गढ़ ली गयी जिनमें रंगमंच को उसकी प्रतिष्ठा नही मिल सकी।

कला की एक सीधी-सी परिभाषा करना एक मुश्किल काम है। कहना चाहे तो कह सकते हैं कि कला-कृति एक ऐसी रचना है जो मानवीय भावनाओं को अभिव्यक्त करती है। यह अभिव्यक्ति मानव की सर्जनात्मक प्रवृत्ति है। नाटक और रंगमंच के क्षेत्र मे यह सर्जन एक कलाकार का न होकर अनेक का होता है। उस समग्र सर्जन के लिए एक शब्द मिलना कठिन है; किन्तु उसके लिए 'नाट्य कला' या 'रंगमंच कला' (थियेटर आर्ट) जैसे किसी शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। ये शब्द अर्थ मे इतने व्यापक हैं या नहीं, किन्तु इतना निश्चित है कि यहाँ हम उनका प्रयोग नाट्य लेखन, निर्देशन, अभिनय, दृश्य सज्जा आदि

के सम्मिलित कलात्मक स्वरूप के अर्थ में कर रहे हैं। वस्तुतः नाट्य लेखन, अभिनय, निर्देशन, दृश्य सज्जा आदि अलग-अलग कलाएँ नहीं हैं, नाट्य या रंगमंच कला के अंग मात्र है। रिचर्ड वैगनर के शब्दो मे, जिन्हें कलाएं कहा जाता है वे अनुर्वर कला की उपजातियाँ मात्र हैं। सच्ची और वास्तविक कला की सृष्टि तब होती है जब उनका समन्वय होता है और इस समन्वय को ही नाट्य कला कहते है।[1] नाटक को एक और रंगमंच को दूसरी कला मानकर चलना ठीक नहीं। दोनों मिलकर एक ही कला को जन्म देते है चाहे उसे 'नाट्य कला' कहा जाय या 'रंगमंच कला'।

नाट्य या रंगमंच कला अन्य कलाओं का उपयोग करती है, इसीलिए इसे एक समग्र कला न मानना अनुचित है। वह अन्य कलाओं के तत्त्व उधार लेती है या उसके तत्त्व अन्य कलाओं में भी प्रयुक्त होते है, इससे उसकी पूर्णता में कोई अन्तर नहीं आता। कोई भी आधार सामग्री या सर्जन प्रक्रिया किसी एक कला की बपौती नहीं है। नाट्य या रंगमंच की कला में और कलाओं के तत्त्व अपने पूर्व-सन्दर्भों से विलग होकर आते है और उसमें समाहित होने की प्रक्रिया में कलात्मक रूपान्तर की स्थिति से गुजरते हैं। इस अर्थ में उसे संकर प्रस्तुति नहीं कहा जा सकता, कई कलाओ का मिश्रण भी नहीं। वस्तुतः किसी भी कला का स्वरूप-निर्धारण इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि उसमें कौन-सी आधार सामग्री या शिल्प प्रयोग मे लाया जाता है, बल्कि इस आधार पर कि उनका प्रयोग किस चीज की रचना के लिए हुआ है। यदि यह कहा जाय कि वह विशुद्ध कला नहीं है तो कहना चाहिए कि कोई कला विशुद्ध नहीं है। आज बहुत से कला समीक्षक और दार्शनिक यह मानने लगे हैं कि विशुद्ध कला एक भ्रामक नारा है।[2]

सारे भ्रम की जड़ यह है कि नाटक का लिखित रूप ही अपने में एक पूरा सर्जन है। सचाई यह है कि नाट्य कृति अपने मे अपूर्ण है, यह समग्र नाट्य कला का एक आधारभूत अंग मात्र है। इसी प्रकार सारा रंगकर्म नाट्य कृति के बिना अर्थहीन है। विडम्बना यही है कि सम्पूर्ण नाट्य कला कई हाथो की देन है। वस्तुतः अन्य कलाओं की भाँति इसका भी एक शिल्प पक्ष है और इसमें आधार-सामग्री का अपेक्षाकृत बाहुल्य है। किसी नाटक को मंच तक लाने के लिए नाटककार के बाद परिचालक, दृश्य सज्जाकार, रूपकार, प्रकाश-योजनाकार, चित्रकार, अभिनेता आदि अनेक लोगों की जरूरत पड़ती है।

१. थ्योडोर शैंक द्वारा 'द आर्ट ऑव ड्रैमेटिक आर्ट' में उद्धृत, पृ० १५
२. जियोवानी जेंटाइल : 'द फिलासफी ऑफ आर्ट,' पृ० १०६ सूजन लैंगर : 'फीलिंग ऐंड फार्म,' पृ० ३२०-२१

ये सब वे लोग होते हैं जो केवल अपनी किसी एक कला, शिल्प या कार्य में ही निपुण होते हैं। ये सारे कार्य एक ही व्यक्ति द्वारा सम्पादित हो सकें, ऐसा सम्भव नहीं होता। सबकी सामग्री, टेकनीक और पद्धतियाँ अलग-अलग हैं, किन्तु लक्ष्य सबका एक ही होता है। इतने अधिक लोगों का सहयोग इसलिए भी आवश्यक होता है क्योंकि अन्य कलाओं से भिन्न यह एक त्रिआयामी कला है जिसमें दृश्य और श्रव्य, दिक् और काल के सत्याभास पर ही सारा सर्जन निर्भर करता है। शायद ही संसार में कोई एक आदमी हो जो नाट्य कला के सब शिल्पों, विद्याओं और कौशलों में पारंगत हो या जो अकेले ही उसका एकमात्र स्रोत बन सके। इसीलिए नाट्य कला में अलग-अलग रंगकर्मी के अलग-अलग दायित्व निर्धारित हैं। कभी एक ही रंगकर्मी एक-से अधिक दायित्व निभाने की क्षमता रखता है, किन्तु फिर भी कलात्मक कृत्यों की संख्या घटाई नहीं जा सकती। नाट्य को एक पूरी कला का दर्जा देने के लिए अनेक कलाओं, उपकलाओं, शिल्पों, कौशलों की सहज स्वीकृति और अन्विति जरूरी है।

रंगमंच की कला को इसीलिए जटिल कहा जाता है। जो लोग इसे मिश्र या अशुद्ध कला कहकर लांछित करते हैं, वे इसके सम्बन्ध में बहुत बड़ा भ्रम खड़ा करना चाहते हैं। कविता, चित्र, मूर्ति या संगीत की भाँति किसी एक व्यक्ति की सृष्टि न होने के कारण इसे अपूर्ण या निम्नस्तरीय कहना अन्यायपूर्ण है ही, साथ ही इसके लिए 'मिश्र' शब्द का प्रयोग भी बहुत उचित नहीं। यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि नाट्य कला में अन्य कलाओं का मिश्रण नहीं, दूध-पानी की तरह समन्वय होता है। संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य आदि विभिन्न कलाएँ अवश्य हैं किन्तु जब नाट्य में उनका उपयोग होता है तो वे उसी की अपेक्षाओं की पूर्ति करती हैं—नाट्य उनका उपयोग वस्तु या सामग्री की तरह करता है और उन्हें इस तरह गुंफित करता है कि उनका अपना अलग-सा अस्तित्व नहीं रह जाता है। वह एक ऐसी अन्विति पैदा करता है जो उपादेय की तुलना में उपादान को पीछे छोड़ देती है। नाट्य शब्द, कार्य, संगीत, नृत्य, चित्र, अभिनय, सज्जा आदि विभिन्न कलात्मक माध्यमों से कई रूपों में 'अपील' करता है, किन्तु सबका प्रभाव एक ही होता है। नाट्य के विभिन्न अंगों, कलाओं और शिल्पों के बीच एक आंगिक और संवेदनात्मक अन्विति के कारण एक सहज रिश्ता होता है। इसी के कारण रंगमंच उन सबसे सामर्थ्य ग्रहण कर अद्भुत शक्ति अर्जित करता है।

नाटककार, परिचालक, अभिकल्पक, रूपकार सभी रंगमंच की कला के साधक हैं। नाटककार सर्जन करता है, पर रंगकर्मी उसके परिचायक मात्र नहीं हैं—वे भी सर्जक कलाकार हैं। कोई भी रंगकर्म लिखित नाट्य रूप की पुनरावृत्ति नहीं करता, अपने ढंग से उसे पुनः सजित करता है। इसीलिए

कभी-कभी रंगमंच पर नाटक लिखित स्वरूप से भिन्न रूप और अर्थ ग्रहण कर लेता है या अभिप्रेत से भी अधिक कलात्मक उत्कर्ष अर्जित कर लेता है। बहुधा नाटक अभिनय में अधिक संवेदनीय हो जाने के कारण कलात्मक उपलब्धि का एक भिन्न अहसास देता है। कहा जाता है कि मेरी ट्यूडर में मैडमजेल जॉर्ज के अभिनय को देखते हुए विक्टर ह्यूगो ने कहा था : 'नाटककार की सृष्टि के अन्दर ही वह एक ऐसी सृष्टि करती है जो लेखक को स्वयं चकित और चमत्कृत करती है।'[1] इसी प्रकार मैडमजेल क्लेरन को एलेक्ट्रा के रूप में अभिनय करते देख वोल्तायर कह उठा था : 'यह मेरी रचना नहीं, उसकी है—उसने अपनी सर्जना की है।'[1] यही बात परिचालक के विषय में कही जा सकती है। अकेले हैमलेट को इतने रूपों में प्रस्तुत किया गया है कि शेक्सपियर की वास्तविक अवधारणा क्या थी, इसका पता लगाना कठिन है। इसी प्रकार अभिकल्पक (डिजाइनर) दृश्य-सामग्री, प्रकाश, ध्वनि, रूप-सज्जा आदि का ऐसा उपयोग करता है कि रंगमंच एक बोलते चित्र का रूप धारण कर लेता है।

अनेक रंगकर्मियों के सहयोग से रंगमंच जिस गतिशील चित्र, जिस भावमय बिम्ब को उभारता है, वह उसका पूरा विन्यास है, रूप का पूरा संभार है। इसमें एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। उसके सारे अवयव एक ही आन्तरिक दृष्टि से निर्मित होने के कारण अपने सत्व में भी समनुरूप होने को बाध्य हैं और प्रेक्षक की दृष्टि भी उसका समग्र रूप ही देख पाती है। नाटक को देखते हुए दृश्य, पात्र आदि का बोध अलग-अलग कभी नहीं होता। मस्तिष्क में सारा दृश्य एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक संचरण जरूर करता है; किन्तु प्रेक्षक सारे दृश्य को अखंड रूप में ग्रहण करता है। रंगमंच जो दृश्य बिम्ब प्रस्तुत करता है उसके केन्द्रीय बिन्दु हो सकते हैं; किन्तु उनमें सम्बन्ध-सूत्रता न हो, ऐसा कभी नहीं हो सकता। चाहे अभिनय हो या परिचालन, दृश्य-सज्जा हो या रंगदीपन सर्वत्र रंगमंच पर एक अद्भुत सन्तुलन, समन्वय और नियमित संरचना दिखाई देती है। इसीलिए रंगमंच की कला को किसी एक इकाई में नहीं खोजा जा सकता। गोर्डन क्रेग के शब्दों में कहें तो 'रंगमंच की कला न अभिनय है, न नाटक; न दृश्य है न नृत्य बल्कि उन सब तत्त्वों का समन्वय है जिनसे वह निर्मित होती है...।'[2]

नाट्य/रंगमंच कला का आधार है भावना को बिम्बित करना और वास्तविकता

१. थ्योडोर शैंक : 'द आर्ट ऑफ ड्रेमेटिक आर्टस.' पृ० १०२-१०३
२. गोर्डन क्रेग : 'ऑन द आर्ट ऑव थियेटर'

के भ्रम को खड़ा करना। यह कला एकदम आत्मपरक नही है, पर चूंकि इसका आस्वाद ऐंद्रिय है, इसमे भावना का कार्य और वस्तुपरक प्रत्यक्षीकरण अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए नाटककार, कथावस्तु, चरित्र और स्थितियों के माध्यम से भाव-सृष्टि करता है और अपनी नाट्यकृति को प्रेक्षक की भावानुभूति के लिए प्रस्तुत करता है। उसे एक सर्जनात्मक प्रक्रिया के बीच से गुजरना होता है। उसकी अपनी वैयक्तिकता, जीवन-दृष्टि और मानवीय स्थितियों का अनुभव उसकी नाट्य परिकल्पना को एक विशिष्ट सर्जनात्मक स्वरूप प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त हर कला और शिल्प की अपनी कुछ माँगें होती हैं। जहाँ तक नाटक और रगमंच की कला का सम्बन्ध है वह नाटककार और रंगकर्मियों के सर्जनात्मक चयन पर निर्भर करती है। नाटककार शिल्प और सर्जन की सीमाओं के बीच अपने माध्यम का उपयोग करता है और दोनों का सर्जन एक-दूसरे का पूरक होता है। दोनों का उद्देश्य श्रव्य और दृश्य-बिम्बो के द्वारा भावमयी सृष्टि करना है। नाटककार कथावस्तु, चरित्र और संवादों के आधार पर नाट्यकृति की ही रचना नही करता उसके रंग-विधान को भी जन्म देता है। यह सारा रंग-विधान भावाश्रित है। इस प्रकार नाटक और रंगमच की कला भावना के दृश्य और श्रव्य-रूपान्तरण पर निर्भर करती है।

नाटक और रंगमंच की कला वास्तविकता के भ्रम को निर्मित करती है। अभिनेता का शरीर, रूपसज्जा, भाव-भंगिमा वास्तविक व्यक्ति का सत्याभास: प्रस्तुत करते हैं। दृश्यबन्ध, रंग और प्रकाश व्यवस्था दिक् और काल को उजागर करते है और नाटककार के लिखे सम्वाद अभिनेता की वाणी में वास्तविक बातचीत का स्वरूप धारण कर लेते है। इस प्रकार रंगमंच अपने ही एक मायिक यथार्थ की सृष्टि करता है। वोल्तायर ने कहा है : 'रंगमच एक झूठ है उसे जितना हो सके सच्चा बनाओ।' वस्तुत: रंगमंच झूठ पर सच का एक ऐसा जादू फेर देता है कि प्रेक्षक उसे यथार्थ रूप मे ग्रहण करता है—न उसके झूठ को स्वीकार करता है: न सत्य पर अविश्वास करता है। नाटकीय यथार्थ अपने लिए झूठ और सच से परे भी मनोवैज्ञानिक और सौन्दर्यशास्त्रीय अस्तित्व बना लेता है। वस्तुत: इसमे एक रहस्यमयी मानसिक प्रक्रिया निहित है जिसमें अंत:प्रज्ञा का बहुत बड़ा हाथ होता है।

रगमच जिस सत्याभास को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, उसका उद्देश्य प्रेक्षक को धोखा देना नहीं होता। प्रेक्षक भलीभाँति जानता है कि वह नाटक देख रहा है और सब कुछ प्रतीति मात्र है। यही नही, ब्रेख्त, जेने आदि कई नये नाटककारों ने तो जान-बूझकर इस मोह को भंग करने का प्रयास भी किया है। कई नाटककार तो बीच-बीच मे कई माध्यमों से यह चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं कि प्रेक्षको, तुम नाटक देख रहे हो, यह वास्तविक जीवन

नहीं, जीवन की अनुकृति नहीं। इसके बावजूद भी सत्याभास का जादुई क्रम टूटता नहीं। उसका एक दूसरा स्तर सदा सक्रिय रहता है। नाटक और रंगमंच की कला काव्यात्मक कला है जो सत्याभास की कविता रचती है। साहित्य अतीत की रचना करता है, पर रंगमंच वर्तमान और भविष्य की जीवन्त प्रस्तुति करता है। नाटक इस प्रकार मंच पर एक घटना—ईवेंट—बन जाता है जो घटित होता है और उसके वर्तमान में घटित होने में ही एक मायिक सृष्टि का आभास स्वतः बनता जाता है। इसी के कारण रंगमंच जीवन-सादृश्य (लाइफलाइकनेस्स) प्राप्त करता है और अपनी मायिक सृष्टि में ईश्वरीय सृष्टि की समकक्षता का अहसास दिलाता है।

नाटकीय सत्याभास बड़ा प्रभावशाली होता है। इस सत्याभास का आधार नाट्य या रंगमंच का अनुकृतिमूलक होना है। प्रायः इस तरह की बातें दुहराई गयी हैं कि नाटक जीवन का अनुकरण, दर्पण, चित्र, प्रतिकृति, 'स्लाइस' (ए स्लाइ ऑव लाइफ) आदि है। ये सब बातें केवल इस अर्थ में ही सही हो सकती हैं कि नाटक यथार्थ का भ्रम खड़ा करता है। नाटक न जीवन का दर्पण है, न उसकी ज्यों की त्यों प्रतिकृति; बल्कि वह वैसी प्रतीति मात्र कराता है। नाटक अगर दर्पण है तो ऐसा दर्पण जिसके 'फोकस' में जीवन ज्यों का त्यों नहीं आता, वह जीवन को अपने ढंग से प्रोजेक्ट करता है फिर भी प्रेक्षक को ऐसा लगता है जैसे वह मंच पर वास्तविक जीवन को देख रहा हो। अभिनेता, दृश्य सज्जा, सम्वाद, क्रिया-व्यापार—सब मिलकर दिक् और काल की सीमा में जीवन का एक ऐसा सादृश्य उपस्थित करते हैं जिसको हम अपनी आँखों के सामने जीवन्त रूप में घटित होता देखकर इस विवेक को खो देते हैं कि हम जो देख रहे हैं, वह जीवन नहीं है। नाटक और रंगमंच इस माया को अपनी सामग्री और उपकरणों से उत्पन्न करता है। वह अपनी कलात्मक सृष्टि इस रूप में करता है कि उसका बोध सत्याभासी ही होता है। उसमें उपकरण और सामग्री का महत्त्व नहीं रहता, केवल प्रतीति मुख्य हो जाती है।

कई दृष्टियों से नाट्य या रंगमंच की कला महत्त्वपूर्ण है। 'काव्येषु नाटक रम्यं' एक परम्परागत उक्ति है—नाटक और रंगमंच सदा काव्य का मनोरंजक पक्ष रहा है। इसीलिए हमारे यहाँ चाहे काव्य (अर्थात् नाटक) कला न रहा हो, पर ६४ कलाओं में नाटक खेलना अवश्य एक कला थी। एक प्रदर्शनकारी कला होने के नाते यह स्थायी नहीं रहती, पर दृश्य और काव्य दोनों माध्यमों के प्रयोग और अनेक कलाओं के उपादानों के उपयोग के कारण यह सबसे अधिक प्रभावशाली कला है।

अपनी सर्जना में यह जीवन को जीवन्त रूप में उजागर करती है; देश और काल को प्रेक्षक की आँखों के सामने उतारती है और सबसे बड़ी बात यह है कि उन विविध अनुभवों से गुजारती है जिनके बीच हम रात-दिन जीते हैं। इसीलिए यह मूर्त कला भी है और अमूर्त भी; अनुकरण-मूलक भी, और अनकरणमूलक भी। यह दृश्य भी और श्रव्य भी; सत्याभासी भी और सत्याभास को तोड़ने वाली भी। एक ओर ललित कला है, दूसरी ओर उपयोगी माध्यम के रूप में इसका कम महत्त्व नहीं है। ऐसी जटिलता और व्यापकता शायद ही किसी और कला की विशेपता हो!

रंगमंच के सर्जक: अभिनेता, परिचालक, अभिकल्पक ४

नाटककार शब्द के माध्यम से नाट्य कृति का सर्जन करता है। कृति रंगमंच के लिए आधार प्रस्तुत करती है और स्वयं उसकी रचना-प्रक्रिया में ही रंगमंच का विधान होता है; इसीलिए रंगमंच का प्राथमिक सर्जक नाटककार ही होता है। उसकी भूमिका को नकारना असम्भव है, किन्तु रंगमंच पर पाठ या शब्द सब कुछ नही होता। वस्तुतः उसकी अपनी एक अलग 'भाषा' होती है जो कई अर्थों में स्थूल होती है। कथित शब्द का भी अपना महत्त्व होता है, किन्तु रंगमंच उससे भी परे अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों का प्रयोग करता है। ये माध्यम हैं—दृश्य, गति, भंगिमा, वेशभूषा आदि जिनको मंच पर सजित करना पड़ता है। और इसके सर्जक कलाकार हैं: अभिनेता, अभिकल्पक और परिचालक।

अभिनेता नाटककार के लिखे सम्वादों को बोलने और रंग-संकेतों का निर्वाह करनेवाला व्यक्ति-मात्र नहीं है। वह नाटककार द्वारा रेखांकित पात्र की भूमिका में उतरते हुए उसकी शब्दार्थमयी योजना को एक जीवन्त स्वरूप प्रदान करता है। इस प्रक्रिया में वह केवल नाटककार के इरादों को ही पूरा नहीं करता, वरन् उसके शब्दों में रक्त और मांस भरकर प्राण-प्रतिष्ठा भी करता है। *रंगमंच साहित्य नहीं है। इसलिए अभिनेता के सम्वादों को रंगमंच पर बोलता-भर नहीं है—उनको अभिनीत करता है।* एक सुप्रसिद्ध अभिनेता के शब्दों में नाटक एक हिमशैल—आइसबर्ग—की तरह होता है जिसके अर्थ का नौ बटा दस भाग लेखक की चेतना के तल पर ही रह जाता है। एक अच्छा अभिनेता उस अर्थ को मंच पर उभारकर लाता है।[1] वस्तुतः नाट्य कृति का पाठेतर (सब-टेक्सचुअल) अर्थ मंच पर ही उजागर होता है। मुद्रित

1. लेविस फंक और जॉन ई० बूथ: 'ऐक्टर्स टाक अबाउट ऐक्टिंग' पृ० ६०।

या अमुद्रित पाठ मृत होता है। अभिनेता उसमें प्राण फूंकता है। वह मानसिक बिम्बों के द्वारा शब्द की अर्थमयी आत्मा में प्रवेश करता है और उसकी विवृति में श्रव्य वक्तव्य का दृश्य रूप बन जाता है और वक्तव्य स्वयं मानसिक बिम्बों का निर्माण करता है। अभिनेता के संवाद बिम्बों का आह्वान करते हैं। वह जो कुछ बोलता है, वह करने के लिए कम और आँखों के देखने लिए अधिक होता है।[1] वस्तुतः शब्द को वास्तविक शक्ति रंगमंच पर अभिनेता ही प्रदान करता है जो उसकी नाटककार से भिन्न क्षमता को प्रकट करता है।

अभिनेता नाटककार से शब्द और परिचालक से गति सम्बन्धी निर्देश ग्रहण करता है। इन दोनो द्वारा निर्धारित सीमा के अन्दर वह दृश्य और श्रव्य बिम्ब खड़ा करता है। वह नाट्यकृति से संकेत ग्रहण कर शील, भंगिमा, हाव-भाव और गति का नियोजन करता है। वह अपने सम्वादों को ऐसे बोलता है जैसे वे कभी लिखे ही न गए हों;[2] वह अपने को ऐसी भाव-भंगिमा, वेश-भूषा और क्रिया-व्यापार से भरपूर कर देता है कि वह अपनी भूमिका मे वही व्यक्ति लगने लगता है जिसका वह अभिनय करता है। वह भाव, मुद्रा और गति का ऐसा कलात्मक प्रयोग करता है कि रंगमंच निरन्तर बोलती चलती तस्वीर का रूप धारण कर लेता है। वस्तुतः अपनी आंगिक चेष्टाओं, वाणी, वेशविन्यास के माध्यम से वह नाटककार द्वारा सर्जित कथावस्तु, पात्र और भाव को रूपायित कर प्रेक्षक को रस की स्थिति की ओर जाने मे प्रमुख रूप से सहायक होता है; इसीलिए उसे अभिनेता कहा जाता है। प्रयोग के माध्यम से नाटक के अर्थ का प्रत्यक्षीकरण ही अभिनय है[3] और अभिनय करनेवाला पात्र ही अभिनेता कहलाता है।

इस दृष्टि से अभिनेता ही मंच का प्रमुख सर्जक कलाकार ठहरता है। सच कहें तो अभिकल्पक और परिचालक का आविर्भाव रंगमंच की कला में बहुत बाद मे हुआ है—अभिनेता अनादि काल से चला आ रहा है। कुछ दर्शकों के लिए तो वही रंगमंच का असली पर्याय है। वस्तुतः और सब रंगकर्मी पर्दे के पीछे ही सक्रिय रहते है—उनमे अभिनेता ही एक ऐसा कलाकार है जिसका

१. स्टानिस्लावस्की : 'बिल्डिंग ए करैक्टर', पृ० ११८।
२. ईवन इन द थाउजैण्ड्थ नाइट''' (द ऐक्टर) कैन मेक द ऑडियंस बिलीव दैट ही हैज नेवर हर्ड हिज क्यू बिफोर।—शॉ ऑन थियेटर, सम्पादक ई० जे० वेस्ट, पृ० १५७।
३. अभिपूर्वस्तु णीञ्धातु राभिमुख्यार्थ निर्णये।
यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मादभिनय. स्मृतः ।। ना० शा० ८।७
विभावयति यस्माच्च नानार्थान्हि प्रयोगतः।
शाखांगोपांगसंयुक्तस्मादभिनयस्मृत: ।। वही, ८।८

दर्शकों से सीधा सामना होता है। कुछ अर्थों में वह रंगमंच का कर्ता है; नाटकीय पात्र का अवतार भी उसे कहा जा सकता है और सबसे बड़ी बात यह है कि नाट्याभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम वही है। इसीलिए कभी-कभी ग्रैनविल बार्कर का यह कथन सत्य लगता है कि रंगमंच की कला आद्यन्त और सब कालों में अभिनय ही की कला है।[1]

अभिनय कला में दो तत्त्वों का योग होता है—मूकाभिनय और वाणी। मूकाभिनय का सम्बन्ध हाव-भाव, मुखाकृति, गति और क्रिया-व्यापार से होता है और वाणी मुख से निस्सृत मानवीय ध्वनि की विविध विशेषताओं—घनत्व, गुण और तारत्व—से सम्बद्ध है। दोनों का योग रंगमंच पर जीवन की अभिव्यक्ति करता है। अभिनेता इस अभिव्यक्ति के लिए अपना शरीर और वाणी प्रदान करता है। हर कला की एक आधार-सामग्री होती है, किन्तु अभिनेता की आधार-सामग्री स्वयं उसका शरीर है, उसकी अपनी जीवन भी पैठ है। वह अपने शरीर का उपयोग सर्जन के लिए उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कुम्हार माटी से बर्तन गढ़ता है। इस प्रकार अभिनेता के दो स्वरूप होते हैं—एक उसका अपना और दूसरा जो वह अपने ऊपर आरोपित करता है। 'अभिनेता जीवन का अभिनय अपने प्राकृत जीवन के स्थान पर करता है। पर यह एक जीवन का दूसरे जीवन पर आरोप नहीं है।...ऐसी स्थिति में अभिनेता अपनी भूमिका की पहले अपने मानस में सर्जना करता है, और इस मानसिक सर्जन की स्थिति में वह अपने व्यक्तित्व में ही अपने पात्र के व्यक्तित्व की रचना करता है, जैसे नाटककार करता है या कवि करता है। अपने व्यक्तित्व की इसी संक्रमित स्थिति में वह अभिनय करता है।'[2] पहले व्यक्तित्व का दूसरे में संक्रमण ही अभिनय को सर्जन के स्तर तक उठाता है। ऐसा अभिनय धीरे-धीरे, अनजाने अपने ही ऊपर एक ऐसा सम्मोहन डाल देता है कि एक नई भूमिका स्वयं उभरकर सामने आती है। अपने ही द्वारा अपनी ही यह सृष्टि स्वयं अभिनेता नहीं देख पाता; किन्तु प्रेक्षक भली-भाँति उसके चमत्कार को महसूस करता है। रेनहार्ट ने ठीक ही कहा है कि अभिनेता मूर्तिकार है—वह ऐसा व्यक्ति है जो यथार्थ और स्वप्न की सीमा-रेखा पर खड़ा है और उसके दोनों पाँव दोनों क्षेत्रों में हैं।[3] वस्तुतः वह मंच पर वास्तविकता का ऐसा

१. द आर्ट ऑफ थियेटर इज द आर्ट ऑफ ऐक्टिंग फर्स्ट, लास्ट ऐण्ड ऑल द टाइम। मैक्स रेनहार्ट ने भी कहा है : इट इज द ऐक्टर ऐण्ड नो वन ऐल्स दैट द थियेटर बिलौंग्स। ही इज फर्स्ट ऐण्ड फोरमोस्ट ए पोयट। ऑल ग्रेट ड्रैमेटिस्ट वर बॉर्न ऐक्टर्स।
२. डॉ० रघुवंश : नाट्य कला, पृ० १०७
३. द ऐक्टर इज ऐट वन्स ए स्कल्पटर; ही इज ए मैन ऐट द फार्देस्ट बॉर्डर लाइन बिटवीन रियलिटी ऐण्ड ड्रीम, ऐण्ड ही स्टैण्ड्स विद बोथ फीट इन बोथ रेल्म्स।

भ्रम पैदा करता है जिसमें दृश्य और श्रव्य माध्यम एक होकर अद्भुत प्रभाव डालते हैं।—बिल्कुल जीवन्त अनुभव जैसा, या प्राचीन काल के किसी धार्मिक अनुष्ठान जैसा।

अभिनय मे शरीर कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, इसका परिचय नाट्यशास्त्र के आंगिक अभिनय सम्बन्धी विवेचन से स्पष्ट है। अभिनय दर्पण में भी नन्दिकेश्वर ने विस्तार से उसके स्वरूप की व्याख्या की है। विभिन्न अंगों-उपांगों, मुद्राओं, चेष्टाओं को ध्यान मे रखकर हमारे यहाँ अंगहारों, करणों, चारियों का व्यवस्थित निरूपण हुआ है। आंगिक अभिनय के सन्दर्भ में ही भरत आदि ने पात्र द्वारा प्रयोज्य स्थान, पाद प्रचार, आसन आदि की विभिन्न विधियों पर भी गति के अन्तर्गत विचार किया है। इससे स्पष्ट है कि हमारे नाट्यशास्त्र ने शरीर को नाट्य का मूल आधार स्वीकार किया है।

अभिनेता शरीर के साथ वाणी का भी कलात्मक उपयोग करता है। इस उपयोग के सन्दर्भ में भरत की दृष्टि उतनी व्यापक नहीं रही है। इसका कारण यह है कि भारतीय रंगमच की अवधारणा काव्य और रस के आधार पर की गई है। इसीलिए वाचिक अभिनय के अन्तर्गत अभिनय पर कम और भाषा की संरचना पर अधिक बल दिया गया है। सचाई यह है कि अभिनेता की जबान पर आकर संवाद केवल भाषा नहीं रह जाते हैं। अभिनय में भाषा वाणी में बदल जाती है और वाणी अभिनय में। इतालवी अभिनेता सालविनी ने तो यहाँ तक कहा है कि वाणी ही अभिनय है—वाणी, और वाणी और फिर और वाणी।[1] वाणी की अपनी गुणवत्ता, शक्ति, सुर, लय और अवधि होती है। हर अभिनेता अपनी वाणी की इस विशिष्टता से शील निरूपण की माँग को पूरी करता है। कोमल, मध्यम, कर्कश, धीमी, द्रुत और ऊँची आदि वाणी की अनेक विशेषताएँ पात्र की भूमिका के निर्वाह और आत्माभिव्यक्ति में अनेक प्रकार से सहायक होती हैं। इस प्रकार, संवादों की अदायगी में लहजा, बलाघात, स्वर-लय, आरोह-अवरोह, विराम आदि सभी आंगिक अभिनय की भाँति ही अभिनेता को अपनी भूमिका के सर्जन में महत्त्वपूर्ण योग देते है।

अभिनेता इस सारी आंगिक और वाचिक सृष्टि का उपयोग भावाभिव्यक्ति के लिए करता है। आन्तरी चित्तवृत्ति के प्रकाशन के लक्ष्य को देखते हुए ही भरत ने इसीलिए अभिनय के सात्विक पक्ष को श्रेष्ठ माना है।[2] वस्तुतः आंगिक

१. एक्टिंग इज वायस, वायस ऐण्ड मोर वायस ऐण्ड अगेन मोर वायस।
टू स्पीक इज टू ऐक्ट—स्टानिसलावस्की : 'बिल्डिंग अप ए कैरेक्टर,' पृ० १२३

२. सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते।
समसत्त्वो भवेन्मध्यः सत्त्वहीनोऽधमः स्मृतः॥
नाट्यशास्त्र २२।२

और वाचिक अभिनय मनोदशाओं के प्रदर्शन का माध्यम है और अभिनेता उनके द्वारा नाटकीय क्रिया-व्यापार को अनुभवगम्य बनाता है। वस्तुतः अभिनय की सारी कला इस बात पर निर्भर करती है कि अभिनेता पात्र की आंतरिक मनोदशाओं, अनुभूतियों और इंद्रिय संवेगों को अपने बाह्य प्रदर्शनों, रूपाकार, गति, क्रिया-व्यापार और वाणी के द्वारा नाटकीय अभिव्यक्ति प्रदान करता है। आंगिक प्रदर्शन से वह आन्तरिक संवेगों को प्रकट करता है और वाचिक अभिनय से एक पूरक स्थिति को पैदा करता है। इस प्रक्रिया में वह भाव-सृष्टि करता है। यही भाव-सृष्टि प्रेक्षक को विभाव, अनुभाव और संचारियों की सहायता से रस का आस्वाद कराती है।

भावाभिव्यक्ति की समस्या के कारण अभिनय की प्रणाली के साथ एक जटिल प्रश्न जुड़ा हुआ है। यह बात सर्वथा मान ली जाती है कि अभिनेता भावाभिव्यक्ति करता है और उसी के माध्यम से प्रेक्षक में भी वह भावना जगाता है। किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या अभिनेता को भी उन भावनाओं का हृदय से अनुभव करना चाहिए ?

इस सम्बन्ध में एक मत तो यह है कि अभिनेता में तीव्र संवेदना होनी चाहिए। बाइरन का कथन है कि जो यह चाहते हैं कि दूसरे उनकी बात का अनुभव करें, उन्हें स्वयं पहले उसे अनुभव करना चाहिए।[1] इसी प्रकार सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी अभिनेता ताल्मा का विश्वास था कि मंच पर एक निश्चित प्रभाव पैदा करने के लिए तीव्र संवेदना अपेक्षित होती है। अप्पिया का भी यही विचार था और इसी को ध्यान मे रखते हुए उसने संवेदनशील क्षणों के लिए मंच पर संगीत की अवतारणा पर बल दिया। दूसरा मत ठीक इसके विरोध मे है। उनका कहना है कि वास्तविक जीवन में भावना पैदा करने के लिए कोई न कोई प्रेरक हेतु चाहिए; रंगमंच पर उनके लिए प्रतीक्षा नहीं की जा सकती। नाटक की अपेक्षाओं के अनुसार अभिनेता के लिए हँसना-रोना जो कुछ भी भावाभिव्यक्ति अनिवार्य हो वह उसे तत्काल सहज रूप में देनी होती है। अभिनेता को जीवन का अनुभव होता है, पर यह अनुभव एकदम 'भोगा हुआ यथार्थ' जैसी वस्तु नही हो सकता। हत्यारे का अभिनय करने के लिए स्वयं अभिनेता का हत्यारा होना जरूरी नहीं है। जरूरी है जीवन की निरीक्षण, कल्पना शक्ति और नाटकीय अभिव्यक्ति। कुछ लोग भावना मे इतना बह जाते हैं कि अभिनय उनके लिए आग और तूफान का पर्याय बन जाता है; पर सच्चे सर्जक अभिनेता सारा काम कल्पना से निकाल लेते हैं। सुप्रसिद्ध अभिनेता गैरिक कहा करता था कि मैं खम्भे से भी उसी भावना से बात कर सकता

१. दोज हू उड मेक अदर्स फील, मस्ट फील देम सेल्वज।

हूँ जैसे विश्व की किसी प्रसिद्ध सुन्दरी जूलियट से।

भाव को अन्दर से महसूस करता अभिनेता को मंच पर कई कठिनाइयों मे डाल सकता है। इस तरफ ध्यान न भी दें तो भी इतना स्पष्ट है कि इस तरह का अभिनय कला विरोधी ही कहा जायेगा। वस्तुतः रंगमंच की पूरी कला सत्याभास की कला है। इसलिए अभिनेता का कार्य नाट्य-व्यापार को स्वानुभूत करना नही है— उसका आभास देना मात्र है। अभिनेता वास्तव मे वह आदमी नही बन जाता जिसकी वह भूमिका निभाता है। वह केवल दूसरों को दिखाता भर है कि वह अमुक पात्र है। यह रूपान्तरण मात्र है अनुकृति नहीं। अभिनय की कला का मूल मन्त्र इसी बात मे है कि अभिनेता एक माध्यम मात्र होता है और अभिनय जीवन नही, जीवन से भी महत्तर (लार्जर दैन लाइफ) है। सारा अभिनय भावना से उद्भूत न होकर सुनियोजित बाह्य प्रदर्शन होता है। अन्तोनिन अर्तो (१८६६-१९४८) ने इसीलिए अभिनय को शारीरिक व्यायाम की संज्ञा दी है।[1] उनकी दृष्टि मे हर भावना का एक शारीरिक आधार होता है। अभिनेता जानता है कि प्रेक्षक को सम्मोहित करने के लिए शरीर के किस अंग का कब और कैसा प्रयोग करना चाहिए। इसीलिए डेविड बलास्को (१८५९-१९३१) ने अभिनय को सिद्धान्त में विज्ञान और व्यवहार मे कला कहा है। सुप्रसिद्ध अभिनेत्री एलेन टेरी अभिनय को विज्ञान कहकर पुकारती थी। इन स्थापनाओं के पीछे मूल तथ्य यही है कि अभिनय तादात्म्य नही, तदनुरूपता भी नही, वह सादृश्य है, प्रतिनिधित्व मात्र है। और इसकी उपलब्धि का उपाय स्वानुभूति नही उसको व्यक्त करनेवाली विधि मात्र है। वस्तुतः लौकिक जीवन मे भी किसी भी भावना की गहराई में हम नही जाते, भावना का आभास उसके बाह्य चिह्नों से ही पा लेते हैं। इसीलिए अभिनेता के लिए वास्तविक अनुभूति उतनी जरूरी नहीं जितना उसका प्रदर्शन। अभिनेता का सर्जक रूप इसी बात में सामने आता है कि वह एक आरोपित या कल्पित संवेदना की आंगिक सृष्टि करता है जो प्रेक्षक को वास्तविक और व्यावहारिक लगती है। इसीलिए नाट्यशास्त्र (१०।८७) में अभिनेता के लिए शरीर की विशेष देखभाल करने की बात कही गई है। उसके लिए धार्मिक, मानसिक और आध्यात्मिक साधनाएँ जरूरी थी। इसी कारण अभिनय संगीतज्ञो के घरानो की भाँति विशिष्ट लोगों, जातियो और वंश-परम्पराओं मे बँट गया था, जिससे उसने एक सुव्यवस्थित व्यावसायिकता और विशेषज्ञता ग्रहण कर ली थी। नाट्यशास्त्र का अभिनय सम्बन्धी विवेचन इस बात का प्रमाण है कि अभिनय एक पूरा शास्त्र बन गया था और

१. अन्तोनिन अर्तो - 'द थियेटर एण्ड इट्स डब्ल', पृ० ८८

उसके लिए प्रशिक्षण की एक निश्चित यांत्रिक प्रणाली खोजी गयी थी।

अभिनेता प्रेरणामूलक और यांत्रिक दोनों प्रकार की विधियाँ काम में लाते हैं। दोनों के अपने गुण-दोष हैं; पर अभिनेता की वास्तविक कला के दर्शन यांत्रिक अभिनय में ही सम्भव हैं। किन्तु दोनों पद्धतियों का समन्वय अधिक उपयोगी रहता है। हेलेन हेज और उसके अनुयायी किसी भी दृश्य को भावशून्य होकर खेलने में विश्वास करते हैं। इस वर्ग के लोगों का विचार है कि स्वानुभूत अभिनय स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालता है। दूसरी ओर स्वानुभूत अभिनय के पक्षधरों का कहना है कि यांत्रिक भावनाशून्य अभिनय थका देनेवाला होता है क्योंकि उससे भावों से मिलने वाली राहत नहीं मिलती।

भारतीय नाट्यशास्त्री इस समस्या से बहुत पहले से परिचित थे। पश्चिम में प्रेरणामूलक और यांत्रिक अभिनय-पद्धति को लेकर जो विवाद उठ खड़ा हुआ, वही भारत में इस प्रश्न के रूप में उठाया गया कि रस की स्थिति अनुकार्य और अनुकर्त्ता में से किसमें होती है। दोनों में विचारणा का तत्त्व यही है कि नट/अभिनेता को वास्तविक भावानुभूति होती है या वह केवल उसका प्रदर्शन मात्र करता है। हमारे देश में स्पष्टतः दो दृष्टियाँ थी। भट्ट लोल्लट के अनुसार रस की अवस्थिति मूलतः अनुकार्य में होती है। शंकुक ने भी स्थायी भाव की स्थिति अनुकार्य में ही मानी है। अनुकर्त्ता उसका आर्जन सायास करता है। उसमें स्थायी भाव की प्रतीति, अनुमान, शिक्षा और प्रदर्शन के द्वारा होती है। मम्मट ने भी काव्य प्रकाश में शंकुक के मत को ही ग्रहण किया है। उनके अनुसार नटराम की प्रतीति चित्रतुरग न्याय के समान न सम्यक् प्रतीति है, न मिथ्या प्रतीति, न संशय प्रतीति, न सादृश्य प्रतीति, वरन् एक अलौकिक कलात्मक प्रतीति है। अभिनव ने भी इस प्रश्न को अभिनव भारती में सूझ-बूझ के साथ अपना मत प्रस्तुत किया है।[1] कुल मिलाकर भारतीय नाट्यशास्त्र में दो दृष्टियाँ मिलती हैं—एक दृष्टि यह है कि अभिनेता स्थायी भाव की प्रतीति मात्र कराता है—वह आस्वादकर्त्ता नहीं, आस्वादन का उपाय है—पात्र हैं। किन्तु दूसरी दृष्टि यह भी है कि अभिनेता का निज का अनुभव महत्त्वपूर्ण है। भाव, विभाव आदि का कृत्रिम आरोप प्रेक्षक में अनुकार्यगत चित्तवृत्ति नहीं उत्पन्न कर सकता। दोनों मतों में कुछ न कुछ सत्यता है। वस्तुतः अभिनेता न कठपुतली के समान भाव-शून्य होता है और न अनुकार्य की भाँति भाव-विह्वल। उसकी क्षमता इस बात पर निर्भर करती है कि सामाजिक को वैसा अनुभव दे। रसानुभूति की दृष्टि से न अनुकार्य मुख्य है और न अनुकर्त्ता। अभिनय का एकमात्र लक्ष्य है प्रेक्षक जिसके लिए यह सब एक अनिवार्यता है। सारी बात

१. 'अभिनव भारती' ६।१०

उसी पर निर्भर करती है। फिर भी भावानुभूति और शरीर में कोई सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। कुछ अभिनेता आंगिक अभिनय से आन्तरिक अनुभूति तक पहुँचते हैं और कुछ आन्तरिक अनुभूति से बाहरी अंग चेष्टाओं तक। स्तानिस्लावस्की 'भूमिका को जीने' के साथ-साथ जागरूक बाह्य चेष्टाओं को भी महत्त्व देता था। उसका कथन है कि बाह्य आंगिक चेष्टाएँ आन्तरिक मनःस्थितियों को भी प्रभावित करती हैं।

अभिनय कला से सम्बद्ध एक विवाद यह भी है कि अभिनय कला है भी या नहीं ? एक विचार यह भी है कि अभिनेता सर्जक कलाकार नहीं है, वह केवल अनुकरणकर्त्ता है, एक माध्यम है, एक वाद्य है। यह सिद्ध करने के लिए बहुत कुछ लिखा गया है कि अभिनय और कुछ नहीं, दाँव-पेच, छल-बल और 'ट्रिकों' का समुच्चय है। गोर्डन क्रेग तक का यह विचार था कि अभिनय कोई कला नही, असल मे अभिनेता कलाकार का दुश्मन है। कुछ लोग जो अभिनय को कला मानते हैं, उनका कहना है कि अभिनेता व्याख्याता (इंटरप्रेटेटिव) कलाकार है, सर्जक कलाकार नहीं। जहाँ तक व्याख्या का प्रश्न है यह रंगमंच की कला का एक अंग है—उसकी एक आवश्यकता है। अभिनेता चरित्र की व्याख्या करता है। कृति की व्याख्या किये बिना अभिनेता ही क्या, परिचालक और अभिकल्पक भी कोई कलात्मक सर्जन नही कर सकते। पर अभिनेता चरित्र की व्याख्या ही नही करता उससे भी आगे जाता है। कोई भी अभिनेता केवल नाट्य कृति का अनुकरणात्मक प्रयोग नहीं करता। उसका काम केवल नाटककार के संवादों को बोल देना भर नहीं रहता, वह अपने शरीर, कार्य और भंगिमा से एक पूरे जीवन को मंच पर उतारता है। यह उसके सर्जकत्व का प्रमाण है।

यह आक्षेप भी उचित नही कि अन्य कलाओं की भाँति अभिनेता की कला-सामग्री अपने से भिन्न नही है। यह ठीक है कि अभिनेता अपने ही शरीर का अपनी कला के लिए उपयोग करता है और शरीर कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसको इच्छानुसार जड़ तत्त्व की तरह ढाला जा सके। यह तर्क भी उपस्थित किया जाता है कि आदमी कभी सामग्री—मैटीरियल—नही बन सकता, उसका निज का व्यक्तित्व और स्वच्छन्द जीवन होता है। इसलिए रंगमंच के लिए स्त्री-पुरुष का प्रयोग निरर्थक है। किन्तु इसके साथ ही यह नहीं भूल जाना चाहिए कि शरीर-यन्त्र की रचना एक कला-माध्यम के रूप में अनेक सम्भावनाओं से युक्त है। जड़ माध्यम की तुलना मे उसका उपयोग कठिन अवश्य है, किन्तु यह कठिनता ही अभिनय कला की क्षमता को प्रकट करती है। नाट्य इसीलिए उच्च कोटि की कला है क्योंकि इसका माध्यम जीवन्त जटिल मानव शरीर है और यह मानव शरीर जिस प्रकार जीवन की सृष्टि करता

है उसी प्रकार अभिनय में भी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बनता है। जहाँ तक अभिनय को केवल दाँव-पेच, छल और बाजीगरी का समुच्चय—'कलेक्शन ऑव ट्रिक्स'—कहने की बात है, इस कथन के पीछे घृणा का भाव मुख्य है। वस्तुतः कोई कला ऐसी नहीं जिसकी अपनी 'ट्रिक्स' न हो—सबका अपना शिल्प है, सब सत्याभास के बल पर जीती हैं।

अभिनेता की भाँति अभिकल्पक भी रंगमंच की कला मे महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी माना जाता है। प्रायः किसी नाटक की प्रस्तुति में एक से अधिक अभिकल्पकों (डिजाइनरो) की आवश्यकता पडती है। चूंकि दृश्य-सज्जा, प्रकाश व्यवस्था, वेशभूषा, रूप सज्जा आदि सभी रंगकार्यों के लिए अलग-अलग तकनीकी कुशलता अपेक्षित है; इसलिए कई अभिकल्पकों की अपेक्षा होती है। फिर भी ऐसा सम्भव है कि कोई एक व्यक्ति ही इन सब कर्मों में निपुणता प्राप्त कर ले। आधुनिक प्रस्तुतियो में रंगमंच पर सर्जित दृश्य कार्य अभिकल्पक के कार्य-क्षेत्र के अंतर्गत आता है। अतः दृश्यबन्ध, दृश्य सज्जा, रंगदीपन, रूप सज्जा तथा वेश-विन्यास सभी रंगमंचीय अभिकल्पना के विषय होते हैं।

इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण दृश्यबन्ध, दृश्यसज्जा और रंग-संस्कार ही है। पहले इन सबमे जो थोड़ा-सा अन्तर है उसको समझ लेना चाहिए। दृश्यबन्ध या सेटिंग किसी दृश्य की वह आलंकारिक या सादृश्यमूलक पृष्ठभूमि है जो प्रायः पूरे नाटक में एक-सी रहती है। व्यापक अर्थ में इसे रंग संस्कार कह सकते है। दृश्य सज्जा इस अर्थ मे वह मंचीय विधान है जो नाटकीय क्रिया-व्यापार की विकासमान स्थिति मे देश और काल की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न दृश्यावलियो का उपयोग करता है। रंगमंच पर रिक्तता ग्राह्य नही होती। इसलिए उसे आपूरित करना अनिवार्य होता है। अभिनेताओं को पृष्ठभूमि प्रदान करने के लिए ही नही, वरन् उसे पूर्ण मूर्त और सचित्र स्वरूप देने के लिए भी दृश्यविधान अनिवार्य होता है। दृश्य विधान नाटक को दृश्यत्व से भरपूर करता है। दृश्य सज्जाकार अपनी दृश्य योजना से अभिनेता के लिए आवश्यक वातावरण निर्मित करता है। इस वातावरण के निर्माण के आधार पर मंच पर देश और काल का सत्याभास प्रस्तुत किया जाता है। नाटकीय क्रिया-व्यापार उसी मे घटित होता है और प्रेक्षक पात्र के उस परिवेश से ही प्रभाव ग्रहण करता है। उसके द्वारा इसीलिए उस परिस्थिति का संकेत दिया जा सकता है जिसमें कोई कार्य घटित होता है। पात्र की मनःस्थिति और क्रिया-व्यापार के साथ उसका सम्बन्ध भी दृश्य विधान के माध्यम से व्यंजित होता है।

संक्षेप में कहें तो दृश्य-सज्जाकार रंगमंच पर अपनी कला के द्वारा बिम्बों की सृष्टि करता है। इस सृष्टि में यथार्थ को प्रस्तुतीकरण का सत्य बनने के लिए एक मौलिक सर्जनात्मक प्रक्रिया के बीच से गुजरना पड़ता है। उसमें दृश्य-सज्जाकार की कल्पना का प्रमुख स्थान होता है। वस्तुतः दृश्य-सज्जा गृह-सज्जा जैसी वस्तु नहीं—यह केवल अलंकरण की वस्तु मात्र न होकर अच्छे दृश्य-सज्जाकार के हाथों सम्प्रेषण का भी माध्यम बन जाती है। प्लेटो ने कहा है : 'मैं सुन्दर वस्तुओं को नहीं, सौन्दर्य को ढूंढता हूँ।' एक अच्छा दृश्य-सज्जाकार भी मंच पर सौन्दर्य की सृष्टि करता है। वह अपने दृश्य विधान से एक विलक्षण अर्थवत्ता और एक सघन भाव-दशा की रचना करता है। इसीलिए सज्जाकार की कला काव्य की कला के समान है। प्रसिद्ध अभिकल्पक रॉबर्ट ऐडमंड जोन्स के शब्दों में, 'मंच की अभिकल्पना न वास्तुकार जैसी है, न मूर्तिकार और चित्रकार जैसी, बल्कि कवि जैसी है। कवि से तात्पर्य उस व्यक्ति से नहीं जो छन्द रचना करता है; वरन् मैं तो काव्यात्मक प्रवृत्ति की ओर संकेत करना चाहता हूँ।'[1] इसका तात्पर्य यह है कि कवि की भाँति ही अभिकल्पक जीवन के गहरे अर्थों को भावाभिव्यक्ति देता है। इसीलिए रंगमंच का काम केवल प्रतिकृति बन जाने से नहीं चल जाता। उसे स्थूल और विवरणमूलक बनाने की अपेक्षा भावात्मक और सर्जनात्मक बनाने में ही रंगकर्मी की सिद्धि है। इसीलिए दृश्य विधान में जितनी ही बारीकी, जितनी ही गद्यात्मकता हटा दी जाय, उतना ही रंगमंच का काव्य उभरता है। यह काव्य ही वास्तविक चमत्कार उत्पन्न करता है जो सारे रंगमंचीय व्यापार को रहस्यमय बना देता है।[2]

अभिकल्पक के लिए विशेष रंग-दृष्टि और कल्पना-शक्ति आवश्यक होती है। सही अर्थों में एक सर्जक कलाकार होने के लिए उसे रूप, रेखा और रंग का ज्ञान होना चाहिए। ये तीनों अभिकल्पना के विशेष आधार हैं। इनमें रेखा

१ डिजाइनिंग द स्टेज सीनरी इज नॉट द प्रॉब्लेम ऑफ ऐन आर्किटेक्चरर और पेण्टर और ए स्कल्पटर और ईवन ए म्यूजिशियन बट आव ए पोयट। बाइ ए पोयट आई डोण्ट मीन ऐन आर्टिस्ट हू इज कन्सर्न्ड ऑनली विद द राईटिंग आव वर्स। आई ऐम स्पीकिंग आव द पोयटिक ऐटिच्यूड।

—जोन्स : 'ड्रैमेटिक इमैजिनेशन', पृ० ७७।

२. स्टेज डील्स विद लॉजिक बट विद मैजिक। इट डील्स विद विचक्राफ्ट एण्ड डेमनियक पजेशन ऐण्ड फोरबोडिंग ऐण्ड ऐक्टेसीज ऐण्ड मिस्टिकल स्प्लेंडर ऐण्ड लीजेण्ड्स एण्ड मिस्ट्रीज,''' एण्ड थ्रिलिंग इमिटेशन्स।'''इन थियेटर सुपर नॉर्मल इज द ऑनली नॉर्म, ऐण्ड ऐनीथिंग लेस इज सब-नॉर्मल, डी-विटैलाइज्ड।'

—वही, पृष्ठ ८८-८६

सबसे अधिक आधारभूत तत्त्व है क्योंकि वही स्थान को आवेष्टित कर रूप की सर्जना करती है। दृश्य विधान में गति और स्थिरता दोनों का संकेत भी उसी के द्वारा होता है। रेखाएँ रूप को विशेषता, आकार और गठन प्रदान करती है। दृश्यबंध, मंच उपकरण (प्रोपर्टी)—सबकी अपनी एक आकृति होती है। उसमें रंग का अपना अलग ही महत्त्व होता है, क्योंकि रंग की अनेक विशेषताएँ और श्रेणियाँ होती हैं। इन्ही के कारण रंगमंच पर अपेक्षित वातावरण और अभिव्यक्ति की रचना में वे बहुत सहायक होते है। अभिकल्पक रेखा और रूप के साथ रंग का उपयोग एक निश्चित प्रभाव के लिए करता है। रंगों का पूरक अथवा आनुपातिक रूप मे प्रयोग कर वह उनकी अभिव्यक्तिमूलक विशेषताओ का लाभ उठाता है। रंग मे वर्ण (ह्यू) घनत्व (इण्टेसिटी), और मूल्य (वैल्यू) तीन तत्त्व होते हैं और हर रंग का अपना एक मनोविज्ञान होता है। उदाहरण के लिए लाल रग हत्या, अग्नि, ताप, उत्तेजना का; पीला ऐश्वर्य, शक्ति, कैशोर्य का; नीला अध्यात्म, सत्य, गौरव का और हरा ताजगी, शीतलता, युवा-भावना आदि का प्रतीक है। रंग हलके और गहरे, ऊष्ण और शीतल होते हैं। हरा, नीला और बैंजनी शीतल रंग हैं और पीला, संतरी और लाल ऊष्ण कोटि के रंग है। हलके ऊष्ण रंग कामदी मे और गहरे शीतल रग त्रासदी मे प्रयुक्त होते है।

रेखा, आकृति और रग के माध्यम से अभिकल्पक सर्जन के कुछ सिद्धान्तों को लेकर चलता है। दृश्य कई आकृतियो के मेल से पूर्णता ग्रहण करता है। अतः उसे इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि विभिन्न आकृतियाँ एक सुनिश्चित सामंजस्य का निर्वाह करें। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वे समरूप हों। समरूपता एकसरसता को जन्म देती है। अभिकल्पना में वैषम्य और वैविध्य भी कलात्मक प्रभाव के लिए आवश्यक होता है। वस्तुतः विभिन्न रूपाकार प्रमुख और सहायक रूप मे इस प्रकार परस्पर संलग्न होने चाहिए कि वे अपनी स्थिति और विविधता के बीच सारी दृश्य अभिकल्पना में अन्विति और प्रभाव ला सकें। यह सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि अभि-कल्पक अपनी योजना मे किस प्रकार गति, संतुलन, अनुपात और लय का समावेश करता है। इसके अतिरिक्त किसी भी अच्छी दृश्य सज्जा या दृश्यबंध के लिए प्रेक्षक मे वांछित प्रतिक्रिया को जगा सकने की क्षमता उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि होती है। इसके लिए ध्यानाकर्षण का कोई बिन्दु अनिवार्य होता है। हर नाटक के कथ्य की कुछ ऐसी माँगें होती हैं कि दृश्य का अर्थ-गर्भित अंश दूसरो से अधिक उजागर होकर सामने आये तो वह एक अद्भुत प्रभाव सर्जित करता है। ऐसे केन्द्र-बिन्दु की खोज दृश्य-सज्जाकार के लिए जरूरी होती है। इसके साथ ही जिस प्रकार नृत्य और संगीत मे एक लयबद्धता होती

है, उसी प्रकार दृश्य की अभिकल्पना में अनुरूपता, विरूपता, आकार और गति के माध्यम से मंच पर भी एक विशेष प्रकार की लयबद्धता का निर्माण उसे सजीवता प्रदान करता है। मंच पर लयबद्धता दृश्यों की एक प्रकार की गति है जो कभी पुनरावृत्ति और कभी विषमता पर आधारित होती है। विविधता, आकृतियों का पारस्परिक आनुपातिक सम्बन्ध भी लय को स्थापित करता है। मंच पर यह लयात्मकता आकृतियों की रेखाओं और उनकी विशेषताओं पर निर्भर करती है और प्रेक्षक की दृष्टि को एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक पहुँचाने में सहायक होती है।

किसी भी प्रस्तुति की दृश्य-सज्जा नाट्य कृति के अनुरूप होने को बाध्य है। इसीलिए अभिकल्पक को नाटक के साथ ही दृश्य सज्जा और रंग-संस्कार को भी चुनना पड़ता है। नाटक स्वयं प्रदर्शन शैली का संकेत देता है। फिर भी आदि काल से लेकर आज तक रंग-संस्कार और सज्जा की अनेक शैलियाँ प्रचलित रही हैं और अभिकल्पक की सर्जक दृष्टि का परिचय उनके चुनाव में निहित होता है। मंच पर वस्तुपरक, अमूर्त, अनुकरणमूलक, परिवर्तनीय, स्थायी, आलंकारिक, व्यावहारिक, भीतरी, बाहरी, एकल, अल्पतम, बहुतम आदि अनेक प्रकार का दृश्य विधान सम्भव है। इसके अतिरिक्त पर्दे से भी दृश्य विधान होता आया है। दृश्यबन्ध स्थायी भी होता आया है और परिवर्तनीय भी है। स्थायी दृश्य बन्ध का निर्माण इस तरह किया जाता है कि वह कुछ हेर-फेर और जोड़-तोड़ से वह कई दृश्यों में काम आ सके। प्रायः एकल दृश्यबन्ध (यूनिट सेट) को कई दृश्यों में बदला जा सकता है। इसका निर्माण लकड़ी के चौखटों, दिवालों, खम्भों, दरवाजों, खिड़कियों, जीनों आदि का आभास देने वाली कपड़े से मढ़ी और रँगी आकृतियों के द्वारा किया जाता है। इसका एक अंश स्थायी रहता है, शेष में थोड़े-बहुत परिवर्तन से, आकारों को घटाने-बढ़ाने से नये दृश्य का निर्माण किया जाता है। एकल दृश्यबन्ध कभी बहु दृश्यबन्ध (मल्टिपल सेट) के रूप में भी प्रयुक्त होता है जब वह सारे प्रदर्शन में स्थायी रहता है। तब यह किसी एक स्थल के बजाय अनेक स्थलों का दृश्य के लिए निर्धारण करता है। प्रकाश आवश्यकतानुसार कभी मंच के एक भाग को और कभी दूसरे को आलोकित कर दृश्यान्तर का आभास देता है।

दृश्य विधान आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का होता है। आन्तरिक दृश्यविधान का सबसे सरल रूप संदूकचिया दृश्यबन्ध (बॉक्स सेट) में दिखाई देता है। एक युग था जब रंगमंच को सीन और सीनरी से भरपूर कर देना ही रंगकर्मियों का लक्ष्य होता था। उसके लिए या तो उसमें बारीकियों पर ध्यान दिया जाता था या अलंकरण पर। किन्तु उसकी प्रतिक्रियास्वरूप अब अभिकल्पक बहुत मितव्ययता से काम लेने लगे हैं।

यथार्थवाद की प्रेरणा ने रंगमंच पर बारीकियों को उभारने में मदद दी। प्रतीकवादियों, अभिव्यक्तिवादियों, अतिप्रकृतवादियों ने दृश्यविधान को नई दिशा दी। प्रतीकवादी अभिकल्पकों ने यथार्थवादी दृश्यविधान की बारीकियों और बहुलता को रंग-प्रवृत्ति के विरुद्ध करार दिया। उन्होंने सौन्दर्यशास्त्रीय सत्याभास की पूर्ति और रंगमंच की कविता रचने के लिए अलंकरण को महत्त्व अवश्य दिया, किन्तु प्राकृतिक दृश्यों, चित्रित फलकों, तख्तों और कार्डबोर्डों की सुन्दर आकृतियों के बावजूद उनकी दृष्टि बहुलता पर बहुत कम रही है। प्रतीकवादी अभिकल्पक किसी अन्तर्निहित सत्य, किसी ऐसे सुघट्य प्रतीक की खोज में अपने को लगाते रहे जो यथातथ्य प्रतिकृति की अपेक्षा किसी अर्थगर्भित यथार्थता को व्यंजित कर सके। अभिव्यक्तिवाद के प्रभाव में दृश्यविधान अत्यधिक चयनात्मक होकर रह गया। निर्माणवाद (कंस्ट्रक्टिविज्म), भविष्य-वाद (फ्यूचरिज्म) आदि ने दृश्य विधान को एकदम शैलीबद्ध करके रख दिया। निर्माणवाद के प्रभाव में प्रकृत वस्तु के स्थान पर आनुपातिक और सामंजस्य-मूलक समरूप डिजाइनों का प्रयोग होने लगा। उसकी दृष्टि केवल कुछ ढाँचे खड़े कर देने तक सीमित रही। यह बताया जाता रहा कि ऐसा दृश्य विधान जीवन की यान्त्रिकता के अनुरूप है। इसी प्रकार १९०८-१४ के बीच घनवाद (क्यूबिज्म) का बोलबाला रहा जिसने दृश्य-सज्जा में घनता को प्रोत्साहित किया; चीजों की मोटाई और गोलाई में भी व्यंजित करने का प्रयत्न किया और ज्यामितीय आकृतियों, विकृतियों, वर्तुल और वक्र रेखाओं को प्रश्रय दिया। दृश्य-सज्जा की इस प्रणाली पर उन चित्रकारों का प्रभाव था जो वस्तुओं को घनत्व के साथ अंकित करने में विश्वास करते थे। निर्माणवादियों की भाँति उनकी दृष्टि सौन्दर्यवादी न होकर यान्त्रिक मात्र थी। इसी प्रकार अति प्रकृतवादी (सुर-रियलिस्ट) १९१९-२४ के बीच इस धारणा को लेकर अवतरित हुए कि जगत् के यथार्थ के परे भी एक और वास्तविक यथार्थ है और वह है—अंतश्चेतना की भावभूमि। वे जीवन की व्याख्या स्वप्नों में ढूँढते रहे; इसलिए वे उस दृश्य विधान के पक्ष में रहे जो उनके स्वप्नों के बिम्बों को उजागर कर सके। और अन्ततः विसंगतिवादी (ऐब्सर्डिस्ट) भी कम उल्लेख-नीय नहीं हैं जिनके लिए दृश्य सज्जा का मूल आधार ही विसंगति है।

स्पष्ट है कि विभिन्न वादों के घेरे में दृश्य सज्जा के साथ विशिष्ट कला और रंग दृष्टि जुड़ गयी है। इसलिए अब अभिकल्पक का काम आसान नहीं रह गया है। अब दृश्य-सज्जा जीवन की प्रतिकृति नहीं रह गयी है। वह नाटक के कथ्य और पात्र से सीधे जुड़ गयी है। सारा दृश्य विधान अब नाटक की शैली पर निर्भर करता है और अभिकल्पक के लिए साहित्य और कला दोनों का जानकार होना जरूरी हो गया है।

दृश्य विधान या रंग-संस्कार की कला बहुत पुरानी नहीं है। सामान्यतः ग्रीक रंगमंच को सबसे पुराना रंगमंच माना जाता है; पर उसमें भी दृश्य-विधान की कल्पना नहीं की गयी थी। कुछ कौशलों का प्रयोग अवश्य प्रचलित था; पर रोमन रंगमंच ने इस दृष्टि से और भी प्रगति की। किन्तु रोमन रंगमंच पर भी सम्भवतः दृश्य विधान का प्रयोग नहीं होता था। देश-काल का निरूपण प्रायः कथोपकथन के माध्यम से ही साध्य होता था। रंगमंचीय दृश्य विधान का विकास बहुत बाद मे मिस्ट्री और मिरेकल नाटकों मे हुआ। ये धार्मिक नाटक प्रायः गिरिजाघरो के मुख्य द्वारों पर खेले जाते थे और इनमें दृश्य विधान के द्वारा देश-काल का आभास दिया जाने लगा था। इसी दृष्टि से इंग्लैण्ड का घुमन्तू 'वैगन स्टेज' भी उल्लेखनीय है। उन्नीसवीं शती में जब यथार्थवादी नाट्य परम्परा का विकास हुआ तो दृश्य विधान के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ सामने आयी और यथार्थवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप तो अगणित दृश्य सज्जा की शैलियाँ चल पड़ी जिसके फलस्वरूप दृश्य विधान की कला मौलिक सूझ-बूझ की प्रतीक बन गयी है।

दुर्भाग्य से भारतीय रंगमंच में इतनी स्थितियो को नही पार किया है; किन्तु सन्तोष की बात इतनी है कि पश्चिम के रंगमंच की सारी विकास यात्रा अपनी प्रवृत्ति मे हमारे आहार्य अभिनय के प्रस्थान-बिन्दु की ओर लौटी है। भारतीय रंगदृष्टि अनुकरणात्मक न होकर सदा से उद्भावनात्मक रही है। इधर पश्चिम मे भी यही दृष्टि पनप रही है। भरत ने आहार्य अभिनय के अन्तर्गत पुस्त, अलंकार, अंगरचना तथा सजीव का उल्लेख किया है।[1] पुस्त विधि के द्वारा शैल, यान, विमान, रथ, हाथी आदि की सारूप्य आकृतियाँ प्रस्तुत की जाती थी।[2] पुस्त विधि के तीन रूप थे संधिम (वस्तुओं को जोड़कर बनाना), व्याजिम (यान्त्रिक साधन से भौतिक वस्तुओ का सकेत देना) तथा वेष्टिम (वस्त्र आदि के लपेटकर वस्तुएँ बनाना)। भरत ने रंगमंच पर प्रस्तुत होने वाले अस्त्र-शस्त्रो की भी चर्चा की है।[3] (इन जैसी वस्तुओं को नाट्य सामग्री का अंग माना जा सकता है।) संजीव के अन्तर्गत अपद, द्विपद, चतुष्पद जीवों को मंच पर प्रस्तुत करने की विधि पर विचार हुआ है।[4] कृत्रिम सारूप्यमूलक पद्धति मे लौकिक जीवों का सत्याभास प्रस्तुत करने की दृष्टि/विधि बहुत कलात्मक कही जा सकती हैं। काष्ठ, वस्त्र, चमड़ा, पत्तों आदि

१. 'नाट्य शास्त्र' २१।५
२. वही, २१।६
३. वही, २१।२००
४. वही, २१।१६२

सामग्री से जिस प्रकार आकृतियों का सर्जन किया जाता था, उस पर समस्त नाट्य प्रयोग निर्भर करता था। इसीलिए रंगमंच पर उसकी महत्ता अक्षुण्ण थी : यस्मात् प्रयोग सर्वोऽयमाहार्याभिनये स्थितः।[1]

दृश्य अभिकल्पना में रंगदीपन अर्थात् प्रकाश व्यवस्था का भी महत्वपूर्ण योग होता है। इसमे कोई सदेह नही, रंगदीपन अब रंगमंच कला का विशिष्ट अंग बन चुका है। एक युग था जब मंच पर प्रकाश की ऐसी सुविधा प्राप्त न थी। इसीलिए भरत ने नाटक के लिए ऐसा समय निर्धारित किया था जब नैसर्गिक प्रकाश ही पर्याप्त माना जाता रहा होगा, फिर भी रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर मे जब नाटक खेले जाते होगे, तब प्रकाश की विशेष व्यवस्था अपेक्षित रहती होगी। भरत ने केवल रंगपूजा के संदर्भ में दीपिका के प्रकाश से समस्त रगभूमि को दीप्त करने की बात मात्र कही है।[2] जहाँ तक पश्चिम की प्रकाश व्यवस्था का प्रश्न है, यूनानी रंगशालाओं मे यह रूढ़ि प्रचलित नही थी। मध्यकाल मे आकर मोमबत्तियो का प्रयोग आरम्भ हुआ जो रंग-दीपन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। १७८३ मे जब 'आरगैण्ड लैम्प' का आविष्कार हुआ, मिट्टी का तेल या शुद्ध किये गये तारपीन के तेल के द्वारा मंच पर तीव्र प्रकाश की व्यवस्था की गयी। १७८१ मे 'गैस लाइट' का आविष्कार हो जाने पर रंगमंच पर प्रकाश को मन्द और तीव्र करने की युक्ति का भी उपयोग हुआ और इस प्रकाश पर नियन्त्रण करने की विधियाँ भी काम मे लाई जाने लगी। १८१६ में 'लाइम लाइट' के आविष्कार के साथ प्रकाश को किसी बिन्दु पर केन्द्रित करने या पात्र की गति के साथ संचालित करने की विधि का प्रचार हुआ। १८०८ मे जब बिजली का प्रकाश आया तो सारी प्रकाश-व्यवस्था का स्वरूप ही बदल गया, पर इसमें कम समय नहीं लगा—उन्नीसवी के अन्त तक ही उसका एक सुव्यवस्थित रूप सामने आ पाया।

रंगमंच पर प्रकाश-योजना भी कलात्मक सर्जना मे सहायक होती है। एडोल्फ अप्पिया का कथन है कि प्रकाश व्यवस्था का काम उस कवि-चित्रकार का-सा है जो अपना चित्र प्रकाश से पेण्ट करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रकाश मे संवेगात्मक और सांकेतिक तत्त्व के साथ-साथ गति का भाव विद्यमान है। प्रकाश हृदय को संगीत की भाँति छूता है। सचाई यह है कि

१. नाट्यशास्त्र २१।१
२. भिन्ने कुम्भे ततश्चैव नाट्याचार्य प्रयत्नत.।
प्रगृह्य दीपिकां दीप्तां सर्वं रंगं प्रदीपयेत॥ नाट्यशास्त्र ३।८१

प्रकाश और अन्धकार हमारी अनेक भावनाओं के साथ जुड़े हैं। सघन से लेकर मन्द तक प्रकाश के अनेक ऐसे अन्तवर्ती स्तर हैं जो हृदय में विविध प्रतिक्रियाओं और मनोदशाओं को उद्दीप्त करते हैं। दैनिक जीवन में हम देखते हैं कि हरी-भरी फसल, कल-कल बहती नदी, रेतीले मरुस्थल पर पड़ती चन्द्रमा की किरणें स्वप्नों का कैसा जाल बुनती हैं। सूर्य की किरणें मरुस्थल में मृग-मरीचिका को जन्म देती हैं तो बर्फ से ढकी पहाड़ियों पर प्रभात और गोधूलि कैसा सोना बरसाती है। इस तरह प्रकाश स्वप्निल, सम्मोहक, उद्दीपक, रहस्यमय, भावमय सभी कुछ हो सकता है। इसीलिए वह नाटकीय है और इसी में उसकी कलात्मक उपयोगिता है।

प्रकाश की पहली विशेषता यह है कि वह वस्तुओं को दृश्य बनाता है। वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थलों, क्रिया-व्यापारों आदि का मंच पर दिखाई देना, या न दिखाई देना एक महत्त्वपूर्ण बात है। वस्तुतः सारी नाटकीयता इसी पर निर्भर करती है। मैक्स रेनहार्ट के बारे में कहा जाता है कि एक बार उन्होंने कहा था कि रंग-दीपन की कला जहाँ आवश्यक हो वहाँ प्रकाश करना और जहाँ अवांछित हो, वहाँ से प्रकाश को हटा देने में निहित है। वास्तव में प्रकाश योजना का अर्थ रंगमंच पर केवल उजाला कर देना मात्र नहीं है---उजाला करना है पर यह जानते हुए कि कहाँ उसे करना है, कहाँ नहीं। इसमें दृश्य और अभिनेता को प्रकाशित करना भी एक लक्ष्य होता है, पर इसके साथ ही अभिकल्पक को सारे नाट्यार्थ को भी प्रकाशित करना पड़ता है। इसलिए वह प्रकाश का उपयोग एक मंचीय मुहावरे के रूप में करता है जिसमें सारी प्रकाश योजना अभिव्यक्ति की एक माध्यम बन जाती है—चित्रकार की कूची, शिल्पी की छेनी की तरह। इसके लिए दृष्टिसीमा का संचयन तो आवश्यक है ही; यह भी आवश्यक है कि अभिनेताओं के चेहरे, हाव और क्रिया-व्यापार स्पष्ट और स्वाभाविक रूप में दिखाई पड़ें और प्रकाश की मात्रा में इतनी विविधता हो कि सब कुछ सपाट न दिखाई दे। इस प्रकार प्रकाश के दो कार्य मुख्य हैं : दीपन और सर्जन।

सर्जन की सारी क्षमता इस बात में निहित है कि प्रकाश में तीन गुण होते हैं : घनत्व, गति और रंग। प्रकाश में मात्रा का अन्तर उसके विविध गुणों को उजागर करता है। इसलिए लोग मंच पर प्रकाश के घनत्व को बढ़ाने-घटाने के लिए कई यान्त्रिक विधियों का प्रयोग करते हैं। पुंजदीप (स्पॉट लाइट), तलदीप (फुट लाइट), अंचल दीप (बॉर्डर लाइट), प्रतिबिम्बक (रिफ्लेक्टर), महादीप (फ्लड लाइट) आदि कई माध्यम प्रकाश की गुणवत्ता में यथेष्ट अन्तर प्रस्तुत करने की क्षमता रखते हैं। प्रकाश नियन्त्रण के आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों ने रंगमंच के क्षेत्र में अद्भुत क्रान्ति कर डाली है। इसी प्रकार प्रकाश का चल प्रयोग भी नाटकीय गति, पात्रों के क्रिया-व्यापार और स्थिति के परि-

वर्तन में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है।

आज के रंगमंच की सबसे बड़ी उपलब्धि रंगीन प्रकाश है। रंग और प्रकाश का योग अद्भुत भावात्मक प्रभाव पैदा करने मे समर्थ होता है। इसकी व्याख्या करते हुए सीताराम चतुर्वेदी ने लिखा है : हल्के नीले रंग की किसी भी छाया या झलक (शेड) से ठंडी, तड़के की और पौ फटने की भावना उत्पन्न होती है और जिस दृश्य में शोक, निराशा, हानि का भाव दिखाया जाता हो, उसके लिए यह रंग बहुत उपयुक्त होता है। हिम-श्वेत रंग बहुत स्पष्ट, किन्तु ठंडा होता है जिसका प्रयोग जाड़े की रात, अकेलेपन तथा प्रतीक्षा के भाव-प्रदर्शन वाले दृश्यों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। हल्का पीलापन लिये हुए श्वेत रंग—राजसभा, उत्सव, शोभा-यात्रा, उल्लास और उत्साह के दृश्य इस प्रकाश मे अधिक उपयुक्त लगते हैं। हल्के भूरे पीले (एम्बर) रंग का प्रयोग कमरे मे सूर्य की धूप दिखलाने के लिए किया जा सकता है।···महादीप्त से लाल रंग का प्रयोग दृश्यपीठ के पीछे छिपते हुए सूर्य का प्रदर्शन करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार के प्रकाश में आगे का प्रकाश बन्द करके विदा, निराशा, वृद्धावस्था, त्याग, उपेक्षा, विरक्ति आदि भावों का प्रदर्शन किया जाता है।···गहरे लाल रंग का प्रयोग हत्या, वध, भयानक विपत्ति तथा अत्यंत गम्भीर शोक की परिस्थिति मे अति तीव्र होता है।"[1]

इस प्रकार भाव-दशा के निर्माण में रंगीन प्रकाश का बहुत बड़ा हाथ होता है। प्रकाश के साथ रंग मिलकर रंगमंच की पूरी तस्वीर को पेण्ट करने में सहायक होते हैं। अप्पिया ने प्रकाश को आन्तरिक अभिव्यक्ति का भी सबल साधन माना है। इस अर्थ में प्रकाश संगीत जैसा प्रभाव ग्रहण कर लेता है। विभिन्न संकेत देने, नाटक की व्याख्या करने और दृश्य-विधान में प्रकाश विलक्षण योग देता है। पर केवल रंगीन प्रकाश में ही यह विशेषता नहीं है। रंगविहीन प्रकाश भी मंच पर एक अद्भुत दृश्य-सज्जा प्रस्तुत करता है। कभी-कभी प्रकाश और छाया के द्वारा विलक्षण चित्रात्मक प्रभाव पैदा किया जा सकता है। मंच पर प्रकाश जितना अभिव्यंजक होता है उतना ही अन्धकार भी। छाया-दृश्यों की निर्मिति मे प्रकाश क्रिया-व्यापार और भाव-प्रकाशन का महत्त्वपूर्ण अंग बन जाता है। कभी-कभी छायादृश्य संवाद से भी अधिक प्रभावी होते हैं। अतिप्राकृत का सत्याभास देने के लिए उनका प्रयोग बहुत कलात्मक होता है। प्रकाश की भाँति प्रकाश के अभाव का भी कलात्मक मूल्य होता है। प्रकाश और अन्धकार का वैषम्य नाट्य में ठीक वही भूमिका निभाता है जो संवाद और मौन। इसी प्रकार प्रकाश और दृश्य-सज्जा के योग से

१. सीताराम चतुर्वेदी : भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पृ० ६४१

नाटकीय क्रिया-व्यापार से सम्बद्ध देश-काल उजागर होता है। वस्तुतः स्थान के निर्धारण, दूरियों का आभास देने तथा काल की स्थिति और गतिशीलता के व्यंजित करने मे प्रकाश-योजना अद्‌भुत मायिक सृष्टि करती है।

नाट्य के दूसरे श्रव्य और दृश्य माध्यमों की भाँति ही वेशभूषा और रूपसज्जा (मेक-अप) का भी कम महत्त्व नही है। नाट्यशास्त्र में इसका समावेश आहार्य के नाम से हुआ है। सारा विवेचन इतना व्यापक और विस्तृत है कि उससे लगता है कि भरत के काल में ही यह कला चरम उत्कर्ष पर पहुँची हुई रही होगी। नाट्यशास्त्र में वेश-भूषा और रूपसज्जा को रसानुभूति का प्रमुख साधन माना गया है।[1] अभिनव ने भी पात्र के रूप-रंग का प्रेक्षक के हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव का उल्लेख किया है।[2] वस्तुतः रंगमंच पर प्रयोक्ता पात्र मे प्रयोज्य पात्र का आहरण इसी के द्वारा होता है। यह वस्तुतः छद्‌म उत्पन्न करने वाली एक ऐसी विधि है जिसके योग से पात्र प्रेक्षक की दृष्टि में स्व-भाव से पर-भाव की प्रतीति कराता है।

भरत ने वेश रचना के लिए वस्त्र, आभूषण, माल्य, प्रतिशिर, केश-विन्यास, अंग-रचना, अंगराग, अनुलेपन आदि का विवेचन किया है और सारे आहार्य में चरित्र के अनुरूप सामंजस्य पर बल दिया है। विभिन्न वय, जाति, वर्ण, स्तर, योनि के पात्रों के लिए विभिन्न कोटि के वेश, रूप और रंग का निर्धारण उन्होंने उनकी भूमिकाओं, अवस्थाओं, प्रकृतियों आदि के अनुसार किया है।[3]

इसमे कोई सदेह नही कि वेशभूषा मच पर एक वातावरण निर्मित करती है। उसका सबसे बडा उद्देश्य एक ओर प्रेक्षक को पात्र की प्रतीति करानी होती है, दूसरी ओर नाटक की व्याख्या। व्याख्या से तात्पर्य यह है कि वेशभूषा के माध्यम से ही प्रेक्षक पात्र के देश, काल, अवस्था, आर्थिक स्तर, मनोविज्ञान आदि के सम्बन्ध मे अपना एक बिम्ब बनाता है। इस दशा मे वेशभूषा पात्र की संगति और विसगति दोनों को व्यंजित करती है। इसी प्रकार वह एक पात्र को दूसरे से विलग करने में भी सहायक होती है। वेशभूषा प्रस्तुतीकरण की शैली, नाटक के कथ्य और रसवत्ता को भी मुखरित करती है। इसीलिए किसी ने कहा है कि वेशभूषा अभिनेता द्वारा धारण की हुई दृश्य सज्जा है।

१. नानावस्थाः प्रकृतयः पूर्वं नैपथ्य साधिताः।
अंगादिभिरभिव्यक्तिमुपगच्छन्त्यत्नतः॥ 'नाट्यशास्त्र' २१।२
२. अभिनवभारती, खण्ड २, पृ० १०६
३. नाट्यशास्त्र, २१।१२२-३८

वेश-विन्यास और रूपसज्जा दोनों सहयोगी कलाएँ हैं। इसमें रूपसज्जा का नाटक और रंगमंच की कला में और भी महत्त्व है। वास्तव में रंगमंच और नाटक की कला रूपक की पर्याय है और इस पर्याय की सफलता वेशभूषा पर तो निर्भर करती ही है, रूपसज्जा पर कहीं अधिक। रूपसज्जा ही वास्तव में अभिनेता का पात्र की भूमिका में रूपांतरण करती है। वह सच्चे अर्थों में पात्र के चरित्रांकन का आधार बनती है। उससे चरित्र की सृष्टि होती है, यह कहने के बजाय यह कहना अधिक उचित होगा कि उसके द्वारा पात्र का चरित्र उद्घाटित होता है। कभी-कभी रूपसज्जा के बिना नाटक खेलना सम्भव है, पर अधिकांश स्थितियों में वह अनिवार्य ही होती है। समर्थ अभिनेता अपनी मुखाकृति का इतना लचीला प्रयोग करने में सक्षम होता है कि वह रूपसज्जा का सारा काम उसी से ले लेता है। पर यह सबके लिए सम्भव नहीं है। खासकर ऐसी स्थिति में जब अभिनेता को पात्र की एक विशेष प्रकार की आकृति, भंगिमा, वय, स्वास्थ्य, व्यवसाय, स्वभाव आदि का आभास देना होता है। कुछ मनोदशाओं, भावनाओं आदि की भी ऐसी अपनी अपेक्षाएँ होती है कि रूप-सज्जा अनिवार्य हो जाती है। इसीलिए रूपसज्जा सुव्यवस्थित और सुविचारित ही नहीं सुसर्जित भी होनी चाहिए।

रूपसज्जा का वास्तविक सर्जनात्मक पहलू अभिकल्पक और रूपसज्जाकार के मस्तिष्क में होता है और उनकी अवधारणा का आधार वह पात्र होता है जिसे वे मंच पर व्याख्यायित करने का उपक्रम करते है। इसके लिए सर्वप्रथम शारीरिक बनावट का ध्यान रखना पड़ता है। रूप सज्जाकार अपनी कला से अभिनेता को पात्र के अनुरूप आँखें, नाक, भौंहें, माथा, ओठ, ठोड़ी ही नहीं देता, भावात्मक अभिव्यक्ति भी सर्जित करता है। इसमे उसकी कलात्मक दृष्टि तो काम देती ही है, उस प्रसाधन सामग्री का भी कम महत्त्व नही, जिसका वह उपयोग करता है। विविध रंगों की गुणवत्ता की जानकारी उसकी कला के लिए वरदान स्वरूप होती है। वस्तुत: रूपसज्जा की कला पूर्णत: रंग विज्ञान पर निर्भर करती है। रंग की विशेष मूल्यवत्ता, घनता और मिश्रण पद्धति और उसकी जानकारी का व्यावहारिक प्रयोग रूपसज्जा में व्यक्ति का कायाकल्प कर डालता है। झुर्रियों को बनाने या मिटाने, नाक को छोटा या बड़ा करने, आँखों को क्रूर या कटाक्षपूर्ण बनाने, ओठो और गालों को अधिक या कम उदग्रता प्रदान करने तथा बालों का स्वरूप बदलने मे रूपसज्जाकार को सिद्धहस्तता प्राप्त होती है। वस्तुत: रूपसज्जाकार मूर्तिकार या चित्रकार की भाँति प्रकाश और छाया (लाइट ऐण्ड शेड) के माध्यम से अभिनेता की एक आकृति गढ़ता है। चित्र-कार की भाँति वह भी वास्तविकता का एक भ्रम पैदा करता है। पश्चिम में रबड़ प्रयागस (रबर पोयीसिस) के प्रयोग ने रूपसज्जा को इधर और भी

नए आयाम प्रदान किए हैं। एक युग था जब रूपसज्जा के स्थान पर मुखौटों का प्रयोग होता था। अभी भी कई देशों में नृत्यों और नाटकों में इनकी महत्ता बनी हुई है और शायद भविष्य मे कभी विशेष ढंग के नाटकों के लिए इनकी सम्भावना बढे।

इस प्रकार रंगमंच कई रंगकर्मियों के सामूहिक क्रिया-कलाप की सिद्धि है। दृश्य सज्जा, सामग्री-संयोजन, प्रकाश व्यवस्था, ध्वनि, संगीत, वेशभूषा, रूपसज्जा, चित्राकन आदि रंग-कार्यों से सम्बद्ध रंगकर्मी मंच पर किसी न किसी रूप मे नाट्य सृष्टि मे सहायक होते हैं। पर इस सारी सृष्टि में वे प्रायः कुछ चुनावों के लिए बाध्य होते हैं जो परिचालक की दृष्टि पर निर्भर करते हैं। सर्जन का शिल्प सम्बन्धी पक्ष कई रगकर्मियो के हाथ मे होता है, पर सारी परिकल्पना परिचालक की होती है। वस्तुतः रंगमंच के समग्र स्वरूप को उजागर करने मे नाटककार, अभिनेता, अभिकल्पक और परिचालक सबसे अलग उभरकर आते हैं। इनमें परिचालक की भूमिका निश्चयतः नाटककार की भाँति महत्त्व-पूर्ण है। वस्तुतः वह ही नाट्यकृति को रंगमंच के मुहावरे में ढालकर उसका दृश्यकाव्य के रूप मे रूपातरण करता है। लेखन का सारा दाय नाटककार का है तो प्रस्तुतिकरण की सारी दृष्टि परिचालक की होती है। रंगमंच पर वही निर्णायक अभिकर्त्ता होता है। जो लोग मात्र अभिनेता की भूमिका को ही सब कुछ मानते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि सारी प्रस्तुति के पीछे परिचालक की सर्जनात्मक दृष्टि ही उसे समग्र प्रभाव देती है। वही अभिनेता, अभिकल्पक आदि रंगकर्मियो को एक निश्चित सर्जनात्मक चयन की दिशा देता है। यह निश्चित है कि नाट्य लेखन में नाटककार अपनी सिद्धि दिखाता है; पर वह रंगमंच का कर्त्ता कभी नही बन सकता। यद्यपि बर्नार्ड शॉ का कहना है कि नाटक का सर्वाधिक वाछित परिचालक स्वयं नाटककार ही हो सकता है और ऐसे भी नाटककार हैं जो अभिनेता और परिचालक दोनों होते है; किन्तु वे अधिक सफल नही हो पाते। वस्तुतः रंगमंच पर सर्जन-प्रक्रिया के आयाम उतने ही नही होते जितने कि नाटककार की अवधारणा मे आते हैं। नाटककार रंगमंच पर अपनी कृति को बहुत आगे नहीं ले जा पाता। अभिनेता, अभिकल्पक और परिचालक नाटककार जहाँ पर कृति को छोड़ देता है उससे आगे उसकी रचना करते हैं। परिचालक पर जो यह आक्षेप किया जाता है कि वह नाट्यकृति को विकृत कर देता है, बहुत समीचीन नही है। इसी प्रकार बहुत से कलाकारों और आलोचकों को यह शिकायत रही है कि अभिनेता जीवित प्राणी होता है, परिचालक उसका उपयोग भौतिक पदार्थ की भाँति कभी कर ही नहीं सकता।

इसलिए जो यह बात कही जाती है कि वह उसका उपयोग करता है, नियत्रण करता है या सर्जन का माध्यम बनाता है, यह कैसे सम्भव है ? कहने लगें तो यही बात परिचालक और अभिकल्पक के सम्बन्धों के बारे में भी कही जा सकती है। सही अर्थों में ये सम्बन्ध आड़े नहीं आते। अभिनेता और अभिकल्पक अपनी-अपनी सीमाओं में कलाकार हैं, किन्तु परिचालक समग्र रंगमंच-कला का स्वामी है। अपने अलग व्यक्तित्व के कारण अभिनेता और अभिकल्पक पर परिचालक चाहे कभी-कभी पूरा नियंत्रण न रख पाये, पर इससे उसकी महत्ता घटती नहीं। वस्तुतः सर्जनात्मक एकता कला की सबसे बड़ी अपेक्षा होती है। ऑस्कर वाइल्ड ने ठीक ही कहा है : 'कला के सत्य अलग-अलग हैं, किन्तु कलात्मक प्रभाव का सार उसकी एकता है। राष्ट्रों की सरकारें राजतंत्र, अराजकता और लोकतंत्र के दावे कर सकती है, पर रंगमंच एक सुसंस्कृत अधिनायक के हाथ में ही रहना चाहिए। कार्य का विभाजन हो सकता है, पर मस्तिष्क का विभाजन नहीं होना चाहिए। वास्तव में कलात्मक प्रस्तुति पर एक ही कर्त्ता—केवल एक ही कर्त्ता की छाप होनी चाहिए।'[1]

कुछ लोग परिचालक को इतना अधिक महत्त्व देना उचित नहीं समझते। उनका विचार है कि कई स्थितियों में परिचालक अथवा निर्देशक न नाट्यकृति का प्रमाता होता है, न अभिनेता और न अभिकल्पक। स्वयं न जानते हुए भी दूसरों से काम लेना किसी परिचालक के साथ विडम्बना हो सकती है। पर जिस प्रकार स्वयं न कर पाने की क्षमता बाधा उत्पन्न करती है उसी प्रकार कर दिखाने की क्षमता भी परिचालक के लिए बाधा हो सकती है। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि जो क्रिया करके नहीं दिखा सकते, वे सिखाने में निपुण हो सकते हैं।[2] जो अभिनेता बनने की क्षमता न रखता हो, उसे परिचालक क्या, ब्रह्मा भी अभिनेता नहीं बना सकते। हाँ, सक्षम अभिनेता में परिचालक ऐसी चिनगारी अवश्य भर सकता है जो उसकी सोई प्रतिभा को उद्दीप्त कर सके। मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने इस सन्दर्भ में कहा है :

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥

और तब ऐसा लग सकता है जैसे अभिनेता उल्टा परिचालक को ही सिखा

१. ए. हंट द्वारा लिखित 'डाइरेक्टर इन द थियेटर' में उद्धृत उक्ति, पृ० १७
२. श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रातिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
पस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥
—कालिदास : 'मालविकाग्निमित्र'

रहा है ।[1]

स्वयं अभिनेता न होते हुए, दूसरों से अभिनय कराना, स्वयं अभिकल्पक न होकर भी दूसरों से अभिकल्पना कराना यह परिचालक की विडम्बना हो सकती है; पर सचाई यह है कि जिस तरह अभिनय या अभिकल्पन कलाएँ हैं उस तरह परिचालन कोई अलग-सी कला नहीं है । हाँ, परिचालक स्वयं अवश्य कलाकार है । जिस तरह यह सोच लेना ठीक नहीं कि एक अच्छा नाटककार अच्छा परिचालक भी होता है, उसी तरह इस तथ्य पर पहुँचना भी उचित नहीं कि एक अच्छा अभिनेता या अभिकल्पक ही अच्छा परिचालक होने का अधिकारी है । ठीक इसके विपरीत यह स्थिति स्वयं बाधक हो सकती है । गोर्डन क्रेग ने इसीलिए कहा है : 'रंगमंच का परिचालक इन शिल्पों के क्षेत्र से भिन्न व्यक्ति होना चाहिए । उसे एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो जानता हो, पर करता न हो ।'[2]

परिचालक के पक्ष में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसके पास एक दृष्टि होती है जो मंच पर नाटक को घटित होने की सारी प्रक्रिया का साक्षात्कार करती है और उसको रूपायित करने के साधन जुटाती है । उसकी दृष्टि केवल नाट्यकृति पर ही नहीं होती, वरन् दृश्य-सज्जा, शैली, प्रेक्षक और निहितार्थ के पूरे क्षितिज पर होती है । वह नाट्यकृति का भाष्यकार और पुनःसर्जक दोनों होता है । 'निर्देशक ही वह केन्द्रीय सूत्र है जो नाट्य-प्रदर्शन के विभिन्न तत्त्वों को पिरोता है और उनकी समग्रता को एक समन्वित बल्कि सर्वथा स्वतन्त्र कला-रूप का दर्जा देता है । सार्थक प्रदर्शन में नाटक जिस रूप में दर्शक के पास पहुँचता है, वह बहुत कुछ निर्देशक को कला-बोध और जीवन-बोध को ही सूचित करता है । निर्देशक ही यह निर्णय करता है कि नाटक के विभिन्न अर्थ-स्तरों में से कौन-सा एक या कुछेक उसके प्रदर्शन के लिए और उस प्रदर्शन के माध्यम से उसकी अपनी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के लिए, प्रासंगिक और सार्थक और केन्द्रीय है । इसके बाद वही अभिनेताओं तक अपने उस बोध को सम्प्रेषित करके उन्हें इस कलात्मक साहसिक यात्रा में साथ चलने के लिए आन्तरिक रूप से तैयार करता है; और फिर उनकी गतियों और रंगचर्या के संयोजन के द्वारा, उनके वास्तविक अभिनय संयोजन के द्वारा, विभिन्न अभिनेताओं के पारस्परिक सम्बन्ध के विशेष प्रकार के सन्तुलन, नियमन और

१. नाट्य शिष्य का लक्षण बताते हुए मालविका के सम्बन्ध में 'मालविकाग्निमित्र' में कालिदास ने कहलवाया है :

यद्यत् प्रयोगविषये भाविक मुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत्तद् विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव बाला ॥

२. गोर्डन क्रेग : 'ऑन द आर्ट ऑव थियेटर', पृ० १७१

प्रक्षेपण द्वारा उनके माध्यम से नाटक का अपना अभिप्रेत अर्थ-निर्णय अभिव्यंजित करता है। निर्देशक ही रंगशिल्प के अन्य तत्त्वों को भी—अभिनेताओं की मुख-सज्जा, वेशभूषा, दृश्यबन्ध, प्रकाश योजना और ध्वनि तथा संगीत योजना को—अपनी पूर्व-कल्पित और नाटक के स्वीकृत अर्थ-निर्णय से जुड़ी हुई समन्विति से बाँधता है और इस प्रकार एक समग्र समन्वित प्रभाव दर्शक तक सम्प्रेषित करता है। इस रूप मे वह बहुत-से, अपनी-अपनी विधाओं मे सर्जनशील कर्मियों के—नाटककार, अभिनेता, दृश्यांकनकार, वेशभूषाकार, प्रकाश-संयोजक तथा ध्वनि और संगीत-संयोजक के—कृतित्व का केवल संगठनकर्त्ता ही नहीं होता, बल्कि उनकी सर्जनशीलता को सम्पूर्ण क्षमता मे सक्रिय करके, उनके विशेष प्रकार के सर्जनशील संयोजन द्वारा, एक सर्वथा नई सृष्टि का रचयिता होता है।"[1]

रंगमंच के विभिन्न अंगों, शिल्पों और उपादानों का सूत्र अपने हाथ में ग्रहण करने के कारण ही सम्भवत: उसे हमारी नाट्य-परम्परा में सूत्रधार कहा गया है। इस शब्द का सम्बन्ध कुछ विद्वान् कठपुतलियों से जोड़ते हैं और कुछ इसे स्थापत्य का शब्द मानते हैं। भरत ने नाट्यशास्त्र के 'भूमिका-पात्र-विकल्पाध्याय' में अनेक पात्रों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए सूत्रधार का विवरण भी प्रस्तुत किया है। उसमे भरत ने सूत्रधार की कई विशेषताएँ निर्धारित की हैं। नाट्य को सिखाना और प्रयोग कराना दोनों उसके कार्य थे। शारदातनय[2] के शब्दों मे जो व्यक्ति नाट्यकृति में निहित कथावस्तु, चरित्र और रसों को भलीभाँति व्यवस्थित करता है उसे सूत्रधार कहा जाता है :

सूत्रयन् काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेतृकथारसान्।
नान्दीश्लोकेन नांधते सूत्रधार इति स्मृतः॥

सूत्रधार के लिए साहित्य, कला, शास्त्र और विद्याओं में पारंगत होना अनिवार्य माना जाता रहा है। ये एक विशिष्ट दृष्टि के लिए उपकारक साधन कहे जा सकते हैं।

नये सन्दर्भ में भी परिचालक के लिए कुछ अर्हताएँ जरूरी हो गयी हैं। उदाहरण के लिए रिहर्सल (पूर्वाभ्यास), कास्टिंग (भूमिका-निर्धारण) तथा अभिनेता आदि रंगकर्मियों से काम लेने की क्षमता ही उसके लिए काफी नहीं, वरन् नाट्य-कृति के स्वरूप, उसकी संरचना और शैली को भी समझने की सूझ-बूझ भी होनी चाहिए। उसे नाटक विशेष की सामर्थ्य और सीमा का भी ज्ञान होना जरूरी है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि परिचालक की सारी योग्यता लिखित नाट्य-

१. नेमिचन्द्र जैन : 'रंगदर्शन', पृ० ४२
२. भाव प्रकाश

कृति को रगमंच के मुहावरे मे विश्लेषित और संयोजित करने की सामर्थ्य पर निर्भर करती है। इसमें रंगमंच को पात्रों के चरित्र, भावात्मक क्षेत्र, रस तत्त्व, वातावरण, ध्वन्यात्मक अपेक्षाएँ, प्रकाश व्यवस्था और सज्जा—सभी जीवन्त दृश्य सन्दर्भों के रूप मे रूपायित करनेवाली दृष्टि और कल्पना शक्ति सर्वप्रथम आती है। उसी पर सारी रंग-सृष्टि निर्भर करती है।

इस अर्थ में परिचालक भी एक सर्जक कलाकार होता है। नाट्यकृति, वाणी, गति, स्थल, दृश्य, वेशभूषा, रूपसज्जा, सगीत आदि सारे तत्त्व उसके सर्जन के माध्यम है। वाणी, भगिमा और गति का मूलाधार अभिनेता होता है और दृश्य-सज्जा, वेशभूषा, प्रकाश-व्यवस्था आदि के लिए उसे अभिकल्पक और उसके सहयोगी शिल्पियो पर निर्भर रहना पड़ता है। इसी प्रकार संगीत और नृत्य कभी-कभी उसके लिए महत्त्वपूर्ण उपादान सिद्ध हो सकते हैं। इन सबके द्वारा वह रगमंच का बिम्ब रूप प्रस्तुत करता है—एक ऐसा चित्र या चित्र-समुच्चय जिसमे सम्प्रेषण की विलक्षण क्षमताएँ निहित रहती हैं। वस्तुतः रंगमंच जीवन्त चित्रात्मक माध्यम है जिसमें कथावस्तु, चरित्र, वातावरण, मनःस्थिति, देश-काल, शैली, शिल्प और प्रकार—सभी कुछ एक दृश्य चित्र के रूप में व्याख्यायित और सर्जित होते हैं। यह भी कहा जाता है कि परिचालक की कला मात्र एक ऐसी कला है जिसकी किसी अन्य कला से कोई तुलना नही। कहना चाहें तो इतना जरूर कह सकते हैं कि उसकी स्थिति ठीक वही है जो एक वृन्दवादन में उसके संचालक की होती है।

कुछ विद्वान् इसलिए यह कहने में संकोच नही करते कि परिचालक की कोई अपनी कला नहीं होती, कला एक ही है और वह रंगमंच की कला। यह ठीक है कि उसकी कला कोई अलग-सी कला नहीं है, पर वह भी औरों की भाँति कलाकार होता है, यह तथ्य सर्वथा अमान्य नही है, उसकी देन इतनी भी कम नही है कि वह और सब लोगों की कला को रंगमचीय एकता और मुहावरा प्रदान करता है। अलग से अभिनय, दृश्य सज्जा, प्रकाश, योजना रूप सज्जा अर्थहीन हैं। परिचालक उन सब माध्यम को अपनी कलात्मक दृष्टि से अन्विति के सूत्र में पिरोकर कृतित्व की अखंडता का आभास दिलाता है। परिचालक तब अपनी कला-मर्मज्ञता का ही परिचय देता है जब वह नाट्य कृति का प्रयोग किसी निहितार्थ-की अभिव्यक्ति के लिए करता है। कभी-कभी वह नाटक के अर्थ को कम और अपने अर्थ को अधिक महत्त्व देने लगता है। इस प्रकार यह अपने लिए नाटक का नये सिरे से सर्जन करता है या यो कह सकते हैं कि वह सर्जन का भी पुनः सर्जन करता है।

कुछ लोग परिचालक को सर्जक कलाकार मानने की अपेक्षा, भाष्यकार कलाकार (इंटरप्रेटेटिव आर्टिस्ट) कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनकी

दृष्टि में परिचालक स्वच्छन्द सर्जन करने का अधिकारी नहीं—उसे तो नाट्य-कृति की सीमा के अंतर्गत ही उसे उजागर करना होता है। निर्देशन या प्रस्तुति के लिए कोई नियम नहीं है, पर बहुत से लोग यह आशा करते हैं कि परिचालक नाट्यकृति को उसी मूल रूप में प्रस्तुत करे। परिचालक और नाटककार के बीच कभी-कभी जो विवाद उठ खड़ा हो उठता है, उसके मूल में यही बात है। नाटककार प्राय: परिचालक से यही माँग करता है कि वह उसकी नाट्यकृति का अर्थ, अभिप्राय, केन्द्रीय बिम्ब और उसके समग्र प्रभाव को समझने की कोशिश करे। वह यह जाने कि किस भावावेश, कल्पना की किस उड़ान और किन उद्‌गारों के बीच कृति लिखी गयी है और उसके पात्र, स्थितियाँ, संवाद, प्रतीक आदि किस निहितार्थ को व्यक्त करते हैं। नाटक के मूल भाव, रंगानुभव, शिल्प, स्वरूप आदि की व्याख्या करने में ही इसीलिए कुछ नाटककार और आलोचक उसके कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। असल में इस सम्बन्ध में दोनों पक्ष अपनी-अपनी जगह पर सही हैं। सवाल सर्जक या व्याख्याता होने का नहीं है—मूल प्रश्न परिचालक की क्षमता का है। परिचालक या तो कलाकार होते हैं या बिल्कुल भी नहीं होते। अच्छा परिचालक साधारण-सी साधारण कृति को चमत्कृत कर देता है। यहाँ तक कि अच्छी-सी नाट्यकृति भी अच्छे परिचालक के अभाव में अनचीन्ही-अनजानी रह जाती है। नाटकों में अर्थ के छुपे आयामों को उभारने में (जहाँ नाटककार तक असफल रहे हैं) परिचालक कभी-कभी सक्षम रहे हैं। दूसरी ओर सामान्य परिचालक चाहे वे मूल कृति के प्रति कितने ही ईमानदार हों, मंच पर उसे जीवन्तता नहीं कर पाते।

वस्तुत: परिचालक का आविर्भाव ही एक बड़ी आवश्यकता की देन है। एक युग था, जब जो कुछ था शब्द था; प्रकाश की व्यवस्था नहीं थी; इसलिए मुख-मंडल की भावात्मक अभिव्यक्ति का कोई महत्त्व ही नहीं था। तब अनुभवी अभिनेता श्रेणीबद्ध संगठनों से जुड़े थे। उनमें अभिनेता-प्रबन्धक की धूम थी। उनकी दृष्टि अभिनय की भावभूमि पर कम और कौशल पर अधिक रहती थी और अभिनय केवल शब्द तक सीमित था। नाट्य-लेखन के क्षेत्र में अन्य सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों के साथ एक परिवर्तन आया तो उसी के साथ रंगकर्मियों ने भी महसूस किया कि मात्र संवाद/शब्द का अभिनय में कोई मूल्य नहीं। तब भी उन्नीसवीं शती के अन्त तक परिचालक या निर्देशक का कहीं नाम नहीं था। तो क्या इससे पहले क्या नाट्य प्रस्तुति होती ही नहीं थी ? उसका दायित्व कौन लेता था ? नाट्याचार्य और सूत्रधार का उल्लेख हमारे यहाँ नाट्यशास्त्र या नाटक ग्रंथों में पहले से मिलता है। पश्चिम में नाटककार-अभिनेता इस दायित्व को निभाते थे या फिर अभिनेता-

प्रबन्धक। पर बाद में नाट्य की प्रस्तुति ज्यों-ज्यों अधिक कलात्मक होती गयी, परिचालक की आवश्यकता त्यों-त्यों बढ़ती गयी।

पहले रंगमंच अभिनेता और नाटककार के हाथ में था। अभिनेता को खेलने के लिए नाटक की जरूरत होती थी; इसलिए वह नाटककार के अधिकार में रहता था। इससे दोनों में एक साझेदारी भी चलती थी। शेक्सपियर और बर्बेज की मैत्री का आधार यही था। दूसरी ओर समय के साथ नाटकों की जब कमी नहीं रही तो अभिनेता के लिए नाटकों की कमी न रही। फलतः अभिनेता-प्रबन्धक प्रणाली का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार नाटककार रंगमंच की दुनिया से बाहर निकल आया और वह नाटकों की मुहय्या कर देने वाला व्यक्ति मात्र रह गया। रंगशालाएँ कम थी, नाटककार अधिक थे। फलतः नाटककार निरन्तर गौण होता गया। किन्तु उन्नीसवीं शती में इब्सेन, स्ट्रिडबर्ग, चेखव, हॉप्टमान, वेडेकिंड, बर्नार्ड शॉ, गाल्सवर्दी, गोर्की आदि कई ऐसे समर्थ नाटककारों का उदय हुआ जिससे नाटककार की स्थिति कृतिकार के रूप में इतनी महत्त्वपूर्ण हो गयी कि रंगमंच के लिए वे स्वयं चुनौती बन गये। यथार्थवाद के के प्रसार के साथ नये नाटककारों को मंच पर प्रस्तुत करने के लिए विशेष क्षमता आवश्यक थी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही परिचालक का आविर्भाव हुआ और प्राचीन और नवीन रंगमंच के बीच एक विभाजक रेखा स्थिर हुई। परिचालक के आते ही रंगमंच का सर्जनात्मक पक्ष उभरकर आया। इसके साथ ही नाट्य प्रदर्शन के नये सिद्धांत प्रयोग में आए। एडोल्फ अप्पिया (१८६२-१९२८), अन्तोनिन अर्तो (१८९६-१९४८), बरतोल ब्रेख्त (१८९८-१९५६), कॉन्स्टैंनिन स्तानिस्लावस्की (१८६३-१९३८), रिचर्ड वैग्नर (१८१३-१८८३) आदि ने रंगमंच की नयी व्याख्या, नया स्वरूप दिया। फलतः परिचालक इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि उसने सबको पीछे छोड़ दिया। और आज स्थिति यह है कि नाटककार उसके पीछे-पीछे नहीं घूमता दिखाई देता, बल्कि उसका अहसान भी मानने लगा है। यह स्थिति उसकी सर्जनात्मक भूमिका को ही प्रकट करती है।

रंगमंच : एक इतिहास यात्रा

●

रंगमंच : आकार और प्रकार

५

रंगमच के एक व्यापक अर्थ के साथ उसका एक स्थूल स्थलवाची अर्थ भी जुड़ा हुआ है। उसके व्यापक अर्थ तक सब की पहुँच नही होती, किन्तु उसका स्थूल अर्थ सभी के लिए सुपरिचित होता है। वैसे भी सचाई यही है कि रंगमंच प्रथमतः वह स्थान-विशेष या नाट्य मण्डप या अधिक से अधिक रंगशाला ही है जहाँ नाटक खेला जाता है। नाट्य या रंगमंच का सूक्ष्म स्वरूप उसके सर्जनात्मक पक्ष से जुड़ा है; किन्तु स्थल-विशेष के रूप में भी, जैसा वह अपने रूप और आकार मे दिखाई देता है, वह कम महत्त्वपूर्ण नही है। उस पर जो सर्जन होता है उसकी दृष्टि से भी स्थल-विशेष के रूप में नाटक के अभिनय के लिए रंगमंच —स्टेज—एक अनिवार्य तत्त्व है। इसलिए जहाँ हमारा ध्यान रंगमंच की कला, नाट्य तथा रंगकार्य के विविध पक्षों की ओर आकर्षित होता है, वहाँ उसके रूप, आकार, स्थापत्य और प्रकार की ओर जाना भी स्वाभाविक है। वस्तुतः जिस तरह पूरी रंगमंच की कला ने अपनी इतिहास-यात्रा मे विकास के कई चरण तय किए है, उसी प्रकार रगभवन और रंगमंच स्थूल रूप मे भी निरन्तर नये परिवर्तन और प्रयोग होते रहे हैं।

प्रारम्भिक रंगमंच का वास्तविक स्वरूप क्या रहा होगा, इसकी कल्पना मात्र की जा सकती है। आदिम निवासियों के बीच उसका प्रारम्भ नृत्यों से हुआ होगा, धार्मिक अनुष्ठानों और यात्राओं से या फिर अनुकृति से। सम्भव है प्रारम्भिक स्थिति मे न कोई विशेष संवाद रहे हो, न प्रदर्शन स्थल, न दृश्य सज्जा; न वेशभूषा; और देखने वाले भी सम्भवतः कोई खास न रहे हों। पर उसी मे नाटक और रंगमंच के बीज विद्यमान थे जो बाद में रंग-तत्त्वों के रूप में विकसित हुए। नृत्य और नाट्य तथा धार्मिक अनुष्ठान की विद्वानों ने पर्याप्त चर्चा की है। अनुकृति का स्वरूप क्या रहा होगा, इसकी रॉबर्ट ऐडमंड जोन्स ने एक सुन्दर कल्पना की है : 'कल्पना कीजिए कि हम प्रस्तर युग में पहुँच गये हैं।

रात हो गयी है। हम सभी लोग अलख के चारों ओर बैठे हुए हैं। अलख के उस ओर कबीले के नेता बैठे हुए हैं।...आज उन्होंने शेर मारा है।...एकाएक कबीले का नेता खड़ा हो जाता है; कहने लगता है: मैंने शेर को मारा है। मैंने उसका पीछा किया, वह मेरी ओर झपटा। मैंने अपने भाले से उस पर वार किया। वह गिर पड़ा।...वह हमें अपनी बहादुरी की कहानी सुना रहा है। हम सुन रहे हैं। परन्तु उसके धुंधले मस्तिष्क में सहसा एक विचार पैदा होता है। इस कहानी को बताने का इससे अच्छा एक ढंग है—देखो ऐसे हुआ मैं अभी तुम्हें करके दिखाता हूँ। *ठीक उसी क्षण नाटक का जन्म हो गया।*'[1] इस तरह अनुकरण, पूर्व-क्रिया की आवृत्ति, स्मरण के ऐसे अवसरों पर लोग चारों ओर घिर आते रहे होंगे। प्रदर्शन की इस प्रक्रिया मे पूर्व-निर्धारित संवादों आदि का कोई स्थान न रहा होगा, पर जानवरों की खाल, मुखौटों और वस्त्रों का प्रयोग एक उपकरण के रूप में होता रहा होगा। पहले इस तरह का कार्य उन स्थानों पर होता रहा होगा, जहाँ रात को लोग गपशप या आमोद-प्रमोद के लिए एकत्र होते रहे होंगे—आँगन, चौपाल, पूजा-स्थान और यहाँ तक कि देवयात्राओं मे सड़कों पर भी। इस समय रंगमच अर्थात् रंगस्थल का कोई स्वरूप नहीं रहा होगा। धीरे-धीरे जब उसने कोई स्वरूप ग्रहण करना प्रारम्भ किया होगा तो सम्भवतः वह वृत्ताकार होता गया होगा क्योंकि प्रेक्षकों के लिए वही सुविधाजनक होता है। (भीड़ का चारों तरफ घिर जाना आज भी सामान्य-सी बात है।) ऐसी स्थिति मे खुले स्थान का प्रयोग ही अधिक होता होगा।

धीरे-धीरे इन सहज स्वाभाविक स्थितियो के बीच से एक ऐसी परम्परा विकसित हुई जिसमे नाटक मात्र खेला ही नहीं, खेलने के लिए लिखा भी जाने लगा। इससे अभिनय करने वालों और नाटक लिखने वालों का एक अलग वर्ग ही उठ खड़ा हुआ। फलतः रंगस्थल की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। रंगस्थल के लिए तब कुछ अपेक्षाएँ निर्धारित हुई होंगी, जैसे प्रवेश द्वार, पृष्ठभूमि, ऊँचा मण्डप और कुछ मंच सामग्री। इसी के साथ रंगभवन के रूप मे देवालय, राजगृह आदि का भी निर्धारण हुआ होगा। भारत में जो व्यवस्था थी, उसका विवरण नाट्यशास्त्र में विस्तार से मिलता है। भरत ने नाट्य गृह के सन्निवेश को आयत, वर्ग और त्रिभुज आकार मे निर्धारित किया; उन्हें विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र नाम से अभिहित किया; और फिर आकार की दृष्टि से प्रत्येक को ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ तीन-तीन वर्गों में विभाजित किया।

१. रॉबर्ट ऐडमंड जोन्स : 'ड्रैमेटिक इमैजिनेशन, पृ० ७५ तथा शेल्डान चेनी : रंगमंच (हिन्दी अनुवाद), पृ० १५-२६

भरत और उसके परवर्ती भाष्यकारों ने उनके माप आदि की यथेष्ट चर्चा की है।[1] नाट्यशास्त्र में भरत ने शास्त्रीय विधि से स्तम्भ, द्वार, दीवाल, नेपथ्य गृह, मत्तवारणी, रंगशीर्ष आदि के निर्माण के सम्बन्ध में अपनी व्यवस्था दी है। उन्होंने यह भी कहा है कि नाट्य मण्डप पर्वत-कन्दरा के आकार का तथा दो भूमियों वाला होना चाहिए और ध्वनि को गम्भीर बनाने के लिए उसे निर्वात होना चाहिए :

कार्य शैल गुहाकारो द्विभूमिर्नाट्य मंडपः।
मंद वातायनोपेतो निर्वातो धीरशब्दवान्॥[2]

कुछ लोगों का विचार है कि भारत में नाट्य प्रयोग शिलावेश्मों में होते थे। इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं है। यहाँ शैल गुहाकार शब्द उस ओर संकेत करता है या नहीं यह कहना कुछ मुश्किल है, किन्तु यहाँ जो अभिप्रेत है उससे स्पष्ट है कि नाट्यशाला की छत समतल न होकर मध्य में उन्नत होती थी। इसी प्रकार द्विभूमि को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है—कुछ के अनुसार नाट्यमण्डप दो मंजिला होता था; कुछ इतना ही मानते हैं कि मंच के दो ऊँचे-नीचे धरातल होते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि रंगपीठ रंगशीर्ष से कुछ ऊँचा होता था।[3] समस्त प्रेक्षागृह चार भागों में विभक्त था—नेपथ्य, रंगशीर्ष, रंगपीठ, रंगमंडल (प्रेक्षक भूमि)। मनमोहन घोष रंगशीर्ष और रंगपीठ दोनों को एक ही मानते हैं; किन्तु अधिकांश विद्वान् इन्हें पृथक्-पृथक् मानते हैं। रंगपीठ के पार्श्व में मत्तवारणी की स्थिति होती थी जो प्रेक्षकों के बैठने की भूमि से ऊँची होती थी।

विदेशी विद्वानों के बीच भारतीय रंगमंच का यह विकसित स्वरूप शंका का विषय रहा है। कुछ लोग आज भी ग्रीक रंगमंच को ही सर्वाधिक पुराना रंगमंच मानते हैं और ऐसे लोगों का भी कभी बोलबाला था जिन्होंने भारतीय रंगमंच को ग्रीक रंगमंच से प्रभावित करार दिया था। किन्तु दोनों रंगमंचों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि उनमें पर्याप्त अन्तर है। भारतीय रंगमंच की छत होती थी। ग्रीक रंगमंच मूलतः मुक्ताकाशी था। ग्रीक नाट्य शाला वृत्ताकार होती थी और पत्थर से काटकर बनाई उसकी सीटों पर हजारों दर्शक बैठ सकते थे जबकि भारतीय नाट्यशाला में यह सम्भव ही न था।

ग्रीक मुक्ताकाशी रंगमंच डायोनिसस की पूजा से विकसित हुआ था। उसे ढलान वाले पहाड़ को काटकर बनाया गया था जिसके मुख्यतः तीन भाग

१. 'नाट्य शास्त्र' २।८-१५ तथा 'हिन्दी अभिनवभारती' (विश्वेश्वर) पृ० २८७
२. 'नाट्यशास्त्र' २।८७
३. वही २।१०५

होते थे—दर्शकों के लिए बैठने का स्थान, ऑरकेस्ट्रा, और दृश्यभित्ति। आगे चलकर इसके साथ अग्रमंच जोड़ दिया गया। ग्रीक लोगों के बाद रोमन लोगों ने मुक्ताकाशी रंगमंच में कुछ परिवर्तन किए—अब गोल ऑरकेस्ट्रा अर्द्धवृत्ताकार ही रह गया और रंगपीठ कुछ उन्नत हुआ। दृश्यभित्ति के पीछे तीन-चार मंजिलों का भवन बना दिया गया; रंगपीठ और दर्शक कक्ष मिलाकर एक कर दिए गये तथा रंगमंच पहाड़ की ढाल पर बनाने के बजाय नगरों में बनने लगे। इसके साथ ही कहीं ऐसे रंगमंच भी बने जिन पर छत डाल दी गई। फिर भी मुक्ताकाशी रंगमंच यहीं समाप्त नहीं हुआ। मध्यकाल में 'मोरैलिटी' और 'मिस्ट्री' नाटकों के साथ जिस रंगमंच का उदय हुआ वह भी मुक्ताकाशी ही था। ये नाटक गिरजाघरों के द्वारों पर खेले जाते थे। और तीन ओर से इनका रंगमंच खुला होता था। इसके बाद रंगमंच व्यावसायिकता की ओर चला गया। फलतः रंगमंच मुक्ताकाशी न रह पाया; समय के साथ वह स्थापत्य के नये आयामों के साथ जुड़ गया। फिर भी मुक्ताकाशी रंगमंच का सर्वथा लोप नहीं हुआ है। आज भी कई नाटक इस मंच पर खेले जाते हैं।

मुक्ताकाशी रंगमच का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह सरल होता है। इसे परिस्थिति के अनुरूप ढाला और सजाया जा सकता है। इसके कुछ दोष हैं; पर सबसे बडा लाभ यह है कि इसमें अभिनेता और प्रेक्षक के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित होता है। इसमे सत्याभास के लिए अधिक गुंजाइश नहीं रहती; फिर भी प्रकृति की पीठिका और प्रकाश व्यवस्था उसे अद्भुत क्षमता प्रदान करते हैं। यथार्थवादी नाटकों को छोड़कर अन्य नाटको के लिए इस कोटि का रंगमंच बड़ा उपयोगी होता है।

मुक्ताकाशी रंगमंच वस्तुतः प्रारम्भिक रंगमंच है। बाद में रगमंच के रूप मे जो परिवर्तन हुए उसमें वह अपने उद्गम से अलग होता गया। रंगशिल्प ज्यों-ज्यों पहले की अपेक्षा यान्त्रिक, ब्योरेवार और भौतिक होता गया त्यों-त्यों रंगमंच की शक्ल-सूरत में परिवर्तन होते गये। सबसे बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि प्रेक्षागृह ने बन्द भवन का रूप ग्रहण किया जिससे वह प्राकृतिक वातावरण से कट गया, किन्तु उसी प्रक्रिया में एक नयी कोटि का रंगमंच जिसे अग्रमंच या रंगद्वार युक्त मंच—प्रोसीनियम स्टेज—कहते हैं, अस्तित्व में आया। पारमा के फार्नीज थियेटर के रूप में १६१८ में ऐल्योती के द्वारा इसका आविर्भाव हुआ। यू (U) की शक्ल का यह रंगमंच अग्रमंच मस्तक वाले रंगमंच के साथ जुड़कर नाट्यशाला के एक नये रूप का आधार बना जिसे घुड़नाल रंगमंच (हॉर्स-शू-स्टेज) कहते हैं। मध्यकाल से लेकर आधु-

निक काल तक प्रोसीनियम स्टेज अपना अस्तित्व बनाये हुए है। यह रंगमंच का अधिकांश लोगों द्वारा स्वीकृत रूप है। इस रंगमंच की विशेषता यह है कि रूपाकार में यह ऐसा होता है कि प्रेक्षक इसकी तरफ एक ही ओर से उन्मुख होते हैं और एक ही रंगद्वार से प्रदर्शन को देखते हैं। यह मुक्ताकाशी रंगमंच से इस रूप में भी भिन्न है कि इसमें अभिनेता और प्रेक्षक विभिन्न कक्षों में बैठे होते हैं और उनके बीच कोई अन्तरंगता नहीं रह पाती।

रंगद्वार मंच आज का सर्वाधिक प्रभावशाली और साधन युक्त रंगमंच कहा जा सकता है। इसमें समय-समय पर स्थापत्य सम्बन्धी परिवर्तन होते रहे हैं। इसलिए यह अब अधिक उपयोग बना गया है। विशाल आयाम, पार्श्व खंड, नेपथ्य आदि के कारण यह अधिक लचीला होता है जिससे किसी भी शैली के नाटक इसके ऊपर खेले जा सकते हैं।

रंगमंच के विभिन्न रूपों में इधर अखाड़ा रंगमंच (अरेना स्टेज) जिसे आजकल वृत्त रंगमंच (थियेटर-इन-द-राउंड) भी कहा जाता है, विशेष लोकप्रिय हुआ है। इस रंगमंच में अभिनय स्थल मध्य में होता है और प्रेक्षक उसके चारों ओर बैठते हैं। कुर्सियाँ ढालू होती हैं और अभिनय सबसे निचली सतह या दो-एक फीट ऊँची सतह पर किया जाता है। आगे की कुर्सियाँ अभिनेताओं के बहुत करीब होती हैं जिससे प्रेक्षक की आत्मीयता बनी रहती है। ऐसे नाटकों के प्रदर्शन में जिनमे स्थलों की विभिन्नता होती है, परिचालक प्रायः पूरे रंगमंच को विभिन्न स्थलो में बाँट देते हैं और प्रतीक रूप में उनका बोध कराने के लिए कुछ दृश्य-सज्जा निर्धारित कर लेते हैं। एक तरीका यह भी होता है रंगमंच के विभिन्न क्षेत्रों को विभिन्न रंगों से रँग दिया जाता है। परिवेश के निर्धारण की जिम्मेदारी इस प्रकार प्रेक्षक की कल्पना, सज्जा के संकेत और अभिनेता की वाणी पर होती है। इसलिए इसमें अभिकल्पक और अभिनेता दोनों का विशिष्ट कौशल अपेक्षित होता है।

वृत्त रंगमंच को १९५० के आसपास बड़ी लोकप्रियता मिली; किन्तु इसका प्रयोग अमेरिका के कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में १९१४ में कभी का हो चुका था। पुराने जमाने मे ग्रीस और रोम के अखाड़ों में नाट्य-प्रदर्शन के लिए उसका प्रयोग होता था; किन्तु उसका यह नूतन विकास उसके पुनर्जीवन की दिशा में नया प्रयोग था।

मुक्ताकाशी, रंगद्वार तथा वृत्तमंच आदि पारम्परिक रंगमंचो के अतिरिक्त

आधुनिक युग में रंगमंच के रूपाकार को लेकर अनेक प्रयोग हुए हैं। इनमें से एक प्रयोग बहुरूप मंच (मल्ट्रीफॉर्म स्टेज) भी है। इन तीनों मंच रूपों को एक रंगशाला में समावेश करने की आकांक्षा भी प्रबल रही है। फलतः वास्तुकारों ने ऐसे मच निर्मित किए हैं जिनमें इन सबका योग मिलता है। मुक्ताकाशी या वृत्त मंच तक के साथ रंगद्वार जोड़कर बहुरूप मंच विकसित किए गये हैं। ऐसे मंच विभिन्न शैलियों के नाटकों को खेलने या एक ही नाटक में अनेक रंगशैलियों का उपयोग करने की दृष्टि से बड़े उपयोगी हो सकते हैं। फिर भी बहुरूप मंच बहुत पूर्ण नहीं होता—उसके लिए बहुत धन तो अपेक्षित ही है, एक सरल, स्पष्ट रूपाकार की भी अपेक्षा होती है।

इसके अतिरिक्त और भी कई मंच-रूप हैं जिनका कोई पारम्परिक आधार नही है। उन्नीसवीं शती मे यथार्थवाद के उदय के साथ कक्ष रंगमंच (बोक्स सेट स्टेज) को अधिक प्रमुखता मिली। फलतः अभिकल्पकों और परिचालकों ने इसे कक्ष के रूप में स्वीकार किया जिसकी चौथी दीवाल प्रेक्षक की आँखो के आगे से हटा दी गयी है। बिजली के आविष्कार के साथ ही रंगमंच के स्वरूप मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। यानमंच (वैगन स्टेज), उद्गामी रंगमंच (एलीवेटर स्टेज), आधोगामी मंच (सिंकिंग स्टेज), सर्पीमंच (स्लाडिंग स्टेज), चक्रीमंच (रिवोल्विग स्टेज), आदि उल्लेखनीय मंच प्रयोग हैं। ये सब यान्त्रिक मंच हैं और इन सब मंचों के पीछे एक ही सुविधा का भाव है कि इन पर दृश्य को ऊपर-नीचे, इधर-उधर सरकाकर या घटित दृश्य को हटाकर दूसरे तैयार किए गये दृश्य को उसके स्थान पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। इसमें एक साथ एक से अधिक दृश्य तैयार किए जा सकते हैं और दृश्यान्तर के लिए यवनिका की आवश्यकता नहीं पड़ती।

मंचों के इन रूपों को देखते हुए लगता है कि वे अधिक जटिल और यान्त्रिक हो गये हैं। ऐसे ही रंगमंचों में रेडियो सिटी म्यूजिक हाल की गिनती होती है जिसका निर्माण १९३७ मे न्यूयार्क मे हुआ था। यह सम्भवतः विश्व की सबसे बड़ी नाट्यशाला है। इसमें कई चक्रिल मंच हैं, साथ ही उद्गामी और अपसारक मंच भी संलग्न हैं; और विलक्षण पर्दों, तलदीपों, विद्युत्-यन्त्रों, साइक्लोरामा आदि नवीनतम उपकरणों से सज्जित है। यह नाट्यशाला अद्भुत यान्त्रिक चमत्कार से परिपूर्ण होने के कारण चकाचौंध कर देती है। इसी की भाँति बर्लिन का कैपिटल थियेटर, टिटानिया पैलेस, म्यूनिख का कुन्स्टलर थियेटर आदि अपनी गरिमा और यान्त्रिक साधनों के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नही कि बिजली की शक्ति से चालित रंगमंच ने सर्वथा काया पलट दी। इसके अतिरिक्त विभिन्न वादों—अभिव्यक्तिवाद, प्रतीकवाद, घनवाद, निर्माणवाद आदि—ने रंगमंच के रूपाकार को किसी न किसी रूप में प्रभावित

किया है। रंगकार्य जटिल हुआ; पर साथ ही गम्भीर प्रतिक्रियाएँ भी हुईं। इसके साथ ही छोटी रंगशालाओं को प्रोत्साहन मिलने लगा जिससे दृश्य-विधान सरल हो गया और छोटी-छोटी नाट्य समितियाँ भी नाटक खेलने का अवसर पा सकीं। सारे विश्व में आज इस प्रकार की रंगशालाएँ विद्यमान हैं। इसी प्रकार रिपर्टरी रंगशालाएँ लोकप्रियता ग्रहण करती गयीं।

एक और मंच-रूप का भी इधर विकास हुआ है। यह इस विचार पर आधारित है कि रंगमंच का कोई भी तत्व पहले से निर्धारित नहीं होना चाहिए—न मंच, न प्रेक्षक, न सज्जा। जितना भी स्थान उपलब्ध हो उसी में अपनी इच्छा से नाट्य-मण्डप और प्रेक्षकों के बैठने के लिए स्थान निर्धारित कर लिया जाय। मंच की यान्त्रिक अवधारणा को भंग करने के लिए यह रंग-मंच दोनों के अलग-अलग निर्धारित स्थल-विभाजन का विरोध करता है। यह विचार एकदम बहुत नया नहीं है। बहुत पहले १८६० के आसपास अभिकल्पक एडोल्फ अप्पिया ने कहा था : 'रंगमंच के अतीत में मरने के लिए छोड़ दो। एक साधारण-सी इमारत बनाएँ जिसके ऊपर एक छत हो—उसमें कोई रंग-पीठ न हो, बस केवल एक खाली नंगा कमरा हो।'[1] कई लोगों के मन में कालान्तर में इस विचार ने बल पकड़ा है। इसके साथ ही यह भावना भी घर करती जा रही है कि अभिनेता और प्रेक्षक के बीच और अधिक इन्वोल्वमेण्ट होना चाहिए—और अधिक मनोवैज्ञानिक, शारीरिक और ऐन्द्रिक। निश्चयतः यह वैचारिक दृष्टि बड़ी उपयोगी हो सकती है। किन्तु यह प्रयोग कुछ दूर जाकर असफल होने को बाध्य है, यदि नाटक को केवल एक घटना समझ लिया जाय। ऐसी स्थिति में नाट्य-कृति, पूर्वाभ्यास के बिना रंगमंच का क्या हाल होगा, इसका सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है, केवल अभिनेता और आशु रचना (इम्प्रोवाजेशन) पर निर्भर रहकर रंगमंच किस रूप को प्राप्त करेगा ?

इसी के साथ एक और सवाल जुड़ा हुआ है—मंच का भावी रूप क्या होगा ? रंगमंच और रंगशाला के रूप और आकार को लेकर निरन्तर प्रयोग होते जा रहे हैं। उन प्रयोगों के बीच उसका कौन-सा आकार-प्रकार उभरेगा—प्रारम्भिक या प्रवर्तित ? आधुनिक रंगशाला को प्राचीन परम्परा की ओर लौटा ले जाना सम्भव नहीं और न पूरी तरह उसे उसके पारम्परिक रूपों से ही मुक्त किया जा सकता है। कुछ लोग लोक तत्त्वों को समाविष्ट करने वाली रंगशाला को ही आदर्श मानते हैं तो कुछ उसे बहुत साधन-सम्पन्न या यान्त्रिकता से मुक्त बनाने की आकांक्षा में रत हैं। एक नाट्य विशेषज्ञ की राय है कि 'भावी रंगमंच का आकार-प्रकार अधिक गतिशील त्रिपरिमाणीय रंगमंच रूप

१. जो मीलज़ीनर : 'द शेप्स ऑव अवर थियेटर', पृ० ६५

(प्लस्टिक थ्री डाइमेन्सनल स्टेज स्ट्रक्चर) होगा जो रूपात्मक, भव्य, और स्वसत्ताहीन (न्यूट्रल) होगा जिस पर अभिनय के लिए कई मंच होंगे जिन पर अनेक प्रकार की चेष्टाएँ सम्भव हो सकेंगी और जिसमें प्रकाश के लिए भी पर्याप्त स्थान होगा। ऐसे रंगमंच पर विभिन्न भाव, स्थान और वृत्ति के अनेक क्रमिक दृश्य दिखलाये जा सकेंगे ···। यह रंगमंच ठोस और दीर्घकालिक होगा जिसमे अनेक प्रकार के स्तर, चौतरे, ढाल, दर्शकों के आगे निकले हुए मंच (ऐप्रन) और पीछे की ओर ऊपर उठे हुए मंच होंगे।···इन नवीन रंगमंचों पर नाटक की समाप्ति के समय किसी ऐसे कौशल का प्रयोग किया जायेगा जिसमे अनेक गतियो या लयों की शृंखला का मेल होगा और आज के नाटक के समान रगमच पर अँधेरा करके या यवनिका गिराकर दृश्य-परिवर्तन नहीं किया जायेगा।'[1]

हमारे मन मे भावी रंगशाला का यह स्वरूप नही रमता है। हमारे विचार मे जटिल यान्त्रिक रंगमच को हम बहुत पीछे छोड आये हैं। रंगमंच चमत्कार के मोह को भग करता जा रहा है और भावी रगशाला का सच्चा रूप वही होगा जिसमे परम्परा और प्रयोग का सामंजस्य होगा। नाटक एकदम यान्त्रिक चमत्कार बनकर रह जाय यह भी कभी मान्य नही होगा और साथ ही उसे अपनी वर्तमान सीमाओं पर विजय पाने के लिए अपने को आविष्कृत भी करना होगा। यह भी ध्यान रखना होगा कि आधुनिक चाक्षुष माध्यम पर्याप्त विकसित हो चुके हैं। नई रंगशाला को उसकी मूलभूत प्रवृत्तियो को पहचानना होगा।

भावी रगमंच की रूपात्मक अवधारणा इस बात पर निर्भर करती है कि आज इस दिशा मे कौन-सी विचारधारा सक्रिय हैं। घुड़नाल, पिक्चर, फ्रेम, प्रोसीनियम रगमंचो का अब पर्याप्त विरोध होने लगा है। स्टेज की सबसे बड़ी सीमा यह है कि यह प्रेक्षक और अभिनेता के बीच की विभाजक रेखा को स्वीकार्य करता है। घुड़नाल वाला रंगमच भी अपनी लोकप्रियता से वंचित होता गया है क्योकि यह प्रेक्षक को सभी कोणो से नाटक ठीक तरह से देख पाने की सुविधा नही प्रदान करता। खुले रंगमंच के लिए ही अधिक गुंजायश रह जाती है जिसमे अखाड़ा या वृत्त रंगमंच मुख्य रूप से आते हैं।

1. सीताराम चतुर्वेदी : 'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच', पृ० ५६६

पाश्चात्य रंगमंच : विकास की दिशाएँ

६

रंगमंच का आविर्भाव कैसे हुआ, इसका संकेत मात्र दिया जा सकता है, कोई मत निश्चित नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में अनेक मत व्यक्त किए गये हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि जहाँ तक पाश्चात्य रंगमंच का प्रश्न है, उसका श्रीगणेश पहले-पहल ग्रीस—यूनान—में हुआ। इसका मूल आधार धार्मिक अनुष्ठान था। आदिम अवस्था में मानव ने प्राकृतिक शक्तियों को रिझाने के लिए धार्मिक अनुष्ठानों की जो व्यवस्था की, यूनान में डाइनीसस की पूजा भी उसी का एक अंग थी। उसी के साथ अनेक मिथो, पौराणिक आख्यानों आदि ने जन्म लिया जो नाटक के विषय बने और जिन्होंने रंगमंच के लिए बीज वपन किए। फिर कई तत्त्व अपेक्षित हुए—नाट्य मंडप, प्रेक्षकों के लिए बैठने का स्थान, संगीत, नृत्य, मुखौटे, वेशभूषा आदि। उसी से अभिनेता का आविर्भाव हुआ। प्रारम्भ में नाटक की कोई लिखित पांडुलिपि न थी। डाइनीसस की वेदी पर लगभग ५० व्यक्ति कोरस में देवता का गान करते थे और उसी के साथ युद्ध, संघर्ष, कलह, ब्याह, पाप, सत्-असत् के आख्यान प्रस्तुत होते थे। किन्तु कालान्तर में रंगमंच धार्मिक अनुष्ठान से विमुक्त हुआ और उसी के साथ नाट्य-लेखन की परम्परा का विकास होता गया।

लिखित नाटक ने कुछ और पहले अपनी परम्परा की शुरुआत की होगी। कहा जाता है कि निश्चित रूप से पहले लिखित नाटक की रचना यूनान में ५३४ ई० पूर्व हुई थी। इस वर्ष डाइनेसिया नगर में नाटकों की प्रतियोगिता की गयी थी। उसमें थेस्पिस को पुरस्कार मिला था। वह पहला अभिनेता भी था। इसलिए यूनान में अभिनेता को 'थेस्पियन' कहा जाने लगा। थेस्पिस का नाटक सामान्य रहा होगा जिसमें एक अभिनेता और कोरस ने भाग लिया होगा और सारा क्रिया-व्यापार मुखौटों के आधार पर चला होगा। नाटक को बाद में सही दिशा ऐस्किलस (५२५-४५६), सोफोक्लीज (४९५-४०६), तथा

यूरोपिडीज (४८०-४०६) के द्वारा मिली। उन्होंने त्रासदियों की रचना की। ऐस्किलस ने ७९ नाटक लिखे जिनमें ७ ही अवशिष्ट हैं। उसने अपने नाटकों में दूसरे पात्र की अवतारणा की जिससे वे दोनों आमने-सामने मुखातिब हो सकें। सौफोक्लीज के बारे मे कहा जाता है कि उसने १०० के लगभग नाटक लिखे; पर उनमें ७ ही अब शेष है। उसकी रचनाओं मे ओडिपस रेक्स विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सौफोक्लीज ने अपने नाटकों में एक पात्र और बढाया और इस प्रकार पात्रो की संख्या ३ कर दी। यूरिपिडीज ने पात्रों की संख्या और भी बढा दी—फोनिशियन वोमेन मे यह ११ तक पहुँच गयी। इससे निरन्तर कोरस का महत्त्व घटता गया और उनकी सख्या भी बहुत कम रह गयी। त्रासदी की भाँति ही ऐरिस्टो फेन्स (४४८-३३८), मेनैडर (३४२-२९१) आदि ने कामदी के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

यूनान मे धार्मिक उत्सवों के अवसर पर नाट्य-प्रदर्शन के आयोजन होते थे। मुख्यतः ऐसे अवसर वर्ष-भर में तीन आते थे जब जाड़ों मे डाइनीसस की पूजा पर डाइनेसिया में, उल्लास के पर्व लेनीया मे और अन्ततः अप्रैल मे एथेन्स मे नाट्य प्रतियोगिता होती थी। अगर कोई नाटककार उसमें भाग लेना चाहता था तो उसे राज्य से कोरस के लिए निवेदन करना पड़ता था। राज्य नाटक के व्यय की सारी जिम्मेदारी किसी धनिक नागरिक को सौंप देता था जिसे कोरगस कहा जाता था। जब नाटक खेलने शुरू होते थे तो सब लोग आमन्त्रित किए जाते थे, यहाँ तक कि कैदियो को भी उन दिनों छोड़ दिया जाता था। प्रतियोगिता डायनिसस के पूजन, गायन, नृत्य और जलूस से शुरू होती थी। त्रासदियों का समारम्भ अजा-बलि से होता था—त्रासदी का अर्थ ही 'अजा गीत' होता है। तीन दिन तक त्रासदियाँ खेली जाती थीं और चौथे दिन कामदी। कामदियाँ उल्लास पर्वों पर विशेष लोकप्रिय होती थी। एक दिन मे पाँच कामदियाँ खेली जाती थीं। त्रासदियाँ एक दिन मे तीन ही खेली जाती थी, पर उनके साथ एक 'सटायर' भी खेला जाता था।

ऐथेन्स में डाइनीसस की रंगशाला मे ही नाटक खेले जाते थे। इसके अतिरिक्त ऐपिडौरस, एरेट्रिया ऑरोपोस आदि मे भी रंगमंच थे। यूनानी रंगमंच मे यद्यपि समय-समय पर कुछ परिवर्तन आए पर उसकी कुछ विशेषताएँ स्थिर रही। छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व का यूनानी रंगमंच पहाड को काटकर बनाया गया था, जिसमे बैठने के लिए ढाल पर सीटें बनी होती थीं। मध्य में गोलाकार ऑरकेस्ट्रा होता था जो पहले नृत्यस्थल के रूप में काम में लाया जाता था। इसमें डाइनीसस देवता की वेदी होती थी, जो कोरस के लिए निर्धारित थी। संगीतकार वेदी की सीढियों पर बैठते थे। ऑरकेस्ट्रा के पीछे दृश्यभित्ति होती थी जिसे 'स्कीन' कहा जाता था। यही वह मंच कक्ष होता

था जो प्राचीन मन्दिर की याद दिलाता है। यह अभिनेता के लिए पृष्ठभूमि, सज्जा-गृह तथा भंडार का भी काम देता था। अभिनेता इसी से मंच पर प्रवेश करते थे। प्रारम्भ में यूनानी रंगमंच सरल था, बाद में उसमें दृश्य सज्जा का भी समावेश होने लगा। और सबसे बड़ी बात यह थी कि कई मशीनों और नाटकीय उपकरणों का भी प्रयोग होने लगा था। देवताओं के ऊपर से प्रकट होने या अन्तर्धान होने के लिए उनका प्रयोग होता था। इसके अतिरिक्त भी लगभग १८ इस प्रकार के उपकरण और विधियाँ प्रचलित थीं।

यूनानी रंगमंच पर बोलने वाले अभिनेताओं की संख्या तीन थी। एक अभिनेता कई भूमिकाओं में उतरता था। सब पुरुष होते थे। अभिनय पद्धति अज्ञात है, किन्तु इतना निश्चित है कि उसमे मुखौटा, नृत्य, संगीत और कोरस का विशेष स्थान था। सभी अभिनेता मुखौटा पहनते थे; सिर के भी कुछ परिधान होते थे। प्रारंभ मे कोरस ५० व्यक्तियों का होता था; बाद में उनकी संख्या १२ और फिर १५ कर दी गयी। कभी कोरस दो दलो मे विभक्त हो जाता था; कभी-कभी उसका नेता अकेला भी कुछ पंक्तियाँ गाता था। कोरस का प्रवेश रंगमंच पर प्राय: 'प्रौलॉग' (प्रस्तावना) के बाद होता था और नाटक की समाप्ति तक वह वहीं रहता था। कोरस का काम सामान्यतः बीच-बीच मे अपनी टिप्पणी देना, परामर्श देना और नाटक की घटनाओं के सूत्र जोड़ना होता था। प्रेक्षक की मनःस्थिति को बनाने मे और नाटकीय प्रभाव की वृद्धि में कोरस का महत्त्वपूर्ण योग होता है।

यूनानी सभ्यता के ह्रास के साथ ही नाट्य कला का अभ्युदय रोम में हुआ। रोमन लोगो ने नाटक को यूनानी उपनिवेशों—विशेषत: सिसिली और दक्षिणी इटली—से प्राप्त किया और वहीं से वे उसे रोम ले गये। कालान्तर में रोम मे प्लॉटस (२५४-१८४), टेरेन्स (१६५-१५६), सेनेका आदि नाटककार हुए। ग्रीक नाटकों की भाँति ही रोमन नाटक उत्सवों के अवसर खेले जाते थे, किन्तु उनका डाइनीसस की पूजा से कोई संबंध न था। इनकी व्यवस्था धनिक लोग करते थे। प्रारम्भ में अधिक दिन नाटक खेलने की व्यवस्था न थी; किन्तु ७८ ई० पूर्व नाटक खेलने के लिए ४८ दिन निर्धारित थे। ३५४ ई० इनकी संख्या बढ़कर १०१ हो गयी।

रोमन नाटक यूनानी नाटक से प्रभावित था; पर उनमें कुछ स्पष्ट भिन्नता भी थी। सबसे बड़ी बात यह थी कि रोमन नाटक कोरस से मुक्त हो चला था। दूसरी बात यह थी कि यूनानी नाटक में संगीत केवल कोरस तक सीमित था, रोमन नाटक मे वह पूरे नाटक में फैल गया था। रोमन कामदी ने घरेलू

जीवन को ही अपना वर्ण्य विषय बनाया और उसका चरित्र विधान कुछ-कुछ निर्धारित-सा था। रोम में त्रासदियाँ अधिक लोकप्रिय नहीं हुईं। सेनेका की नौ त्रासदियाँ मिलती है; किन्तु उनको खेले जाने का अवसर नहीं मिला; भले ही बाद के नाटककारों पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ा।

पहली रोमन रंगशाला ७५ ई० पू० पौम्पीआई में निर्मित हुई बताई जाती है। यह ग्रीक लोगों की तरह पहाड़ की तलहटी में नहीं बनी थी। समतल भूमि पर बनी रोमन रंगशाला में नाट्य मंडप और प्रेक्षागृह अलग-अलग इकाई न थे। प्रेक्षागृह इतना बड़ा होता था कि उसमे दस से पन्द्रह हजार प्रेक्षक बैठ सकते थे। नाट्य मंडप १०० से ३०० फीट तक लम्बा होता था। इसकी एक स्थायी पृष्ठभूमि होती थी। १३३-५६ ई० पू० के बीच पर्दे का प्रयोग चल पड़ा था। रोमन रंगमंच मुख्यतः लकड़ी का बना था। एक लम्बे अरसे तक रोमन कोई स्थायी रंगशाला नहीं खड़ी कर सके थे। साधारणतः इसकी ऊँचाई पाँच फीट होती थी, पर लम्बाई कम नहीं होती थी। इसमें भी ऑरकेस्ट्रा नाम का नृत्य-स्थल होता था। नाट्य मंडप के पीछे एक 'अभिनय गृह' होता था जिसकी दीवाल मंच की स्थायी पृष्ठभूमि का काम देती थी। इसमें कई द्वार होते थे जिनसे अभिनेता रंग-स्थल में प्रवेश करते थे। प्रायः विद्वान् इस बात को मानते हैं कि रोमन रंगमंच पर कोई दृश्य-सज्जा नहीं होती थी और पतनिका (ड्रॉप कर्टेन) जैसी वस्तु का भी प्रयोग नहीं होता था। आज के नाटकों की भाँति कोई दृश्य घर मे घटित होता नहीं दिखाया जाता था बल्कि रोमन लोगों के लिए मंच सड़क या किसी खुली जगह मात्र का प्रतिनिधित्व करता था। इसलिए रंगमच पर सारी सफलता का श्रेय यदि किसी को था तो अभिनेता को। वही अपने शब्दों और भंगिमाओं से दृश्य का संकेत देता था। पात्र स्वयं ही स्पष्ट करते थे कि वे कहाँ से आ रहे हैं, कहाँ जा रहे हैं, क्या और कौन हैं। कुछ नाटकों में प्राकृतिक दृश्यों का उल्लेख अवश्य मिलता है। उनकी योजना मंच पर की जाती होगी, यह नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा किया जाता होगा तो सज्जा या तो पूरी नाट्यावधि तक मच पर बनी रहती होगी या प्रेक्षकों के सामने ही बीच मे हटा दी जाती होगी।

अभिनय की कौन-सी शैली प्रचलित रही होगी, इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि उसमे यथार्थ का तत्व नहीं रहा होगा। आज के अभिनेता परस्पर बातें करते हैं पर रोमन अभिनेता जैसे प्रेक्षको से बातें करते थे— उन्हीं की ओर अभिमुख होते थे। रोमन अभिनेता भी मुखौटों का प्रयोग करते थे। अलग-अलग वय और सामाजिक स्तर के लोगो के लिए अलग-अलग रंग के वस्त्र निर्धारित थे। बूढ़े लोग सफेद, अमीर लोग सन्तरी और गरीब लाल रंग के वस्त्र पहनते थे। पोलक्स ने ६ बूढ़ों के, ११ युवाओं के, ७ दासों

के, ३ बूढ़ी औरतों के, ५ जवान औरतों के, ७ राजपुरुषों के और २ परिचारिकाओं के मुखौटों (कुल मिलाकर ४४) का विवरण प्रस्तुत किया है। मुखौटों के द्वारा एक ही अभिनेता अनेक भूमिकाएँ करता था। इसी प्रकार बालों के विशिष्ट रंग विशिष्ट वय के द्योतक माने जाते थे। लाल बाल दासों के परिचायक होते थे।

जब रोम में पूर्णतः इसाई धर्म की प्रभुता स्थापित हो गयी और सम्राट् कौन्स्टेण्टाइन (३१२-३३७ ई० पश्चात्) ने उसे पर्याप्त राजकीय प्रतिष्ठा प्रदान कर दी तो नाटक और रंगमंच कई कठिनाइयों में पड़ गया। इससे भयंकर बात और क्या हो सकती है कि वह नाटक और रंगमंच जो धार्मिक अनुष्ठानों के गर्भ से पैदा हुआ था, वही धर्म का शिकार हो गया। जब गिरजाघरों के हाथ में शक्ति आई तो उन्होंने लोगों को नाटक न देखने के लिए बाध्य किया, अभिनेताओं को देशनिकाला दिया और रंगशालाओं को बन्द करना शुरू करा दिया। फिर भी प्रदर्शन होते रहे; लेकिन बाहरी आक्रमणों के कारण वे भी समाप्त हो गये। इस तरह ५३३ ई० पश्चात् उत्सवों और पर्वों पर खेले जाने वाले नाटकों की इति ही हो गयी। वस्तुतः रोमन साम्राज्य की छत्रछाया में रंगमंच का तीव्र ह्रास पहले ही हो चुका था। रोमन रंगमंच सामान्यतः मजमेबाजी, पहलवानी, जानवरों की लड़ाई से ऊपर न उठ सका। उसमे अभिनेता को उसकी सही प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकी। अच्छे नाटककार के लिए भी उसमें कोई स्थान नहीं रहा। फलत. उच्च धनिक वर्ग के विलासी और निम्न वर्ग के भ्रष्ट रुचिवाले साधारण लोगों को रिझाने के लिए उसने अर्थहीन क्रिया-कलापों, हत्या, हास्य और अश्लीलता का जिस रूप में सहारा लिया वह घृणित होकर रह गया।

इसके बाद कुछ समय तक रंगमंचीय गतिविधियाँ मृतप्राय-सी हो गयी। गिरजाघरो ने नाट्य प्रदर्शन के लिए छठी से दसवी शताब्दी तक निरन्तर अनेक ऐसे प्रतिबन्ध लगाए कि नाटकों का खुलेआम खेला जाना असम्भव हो गया। किन्तु रंगमंच की लोकप्रियता को देखते हुए गिरजाघरो ने उसका प्रयोग अपने लिए एक तरह से सुरक्षित करा लिया। दसवीं शताब्दी से गिरजाघरों में ही नाटक होने लगे और एक बार नाटक को फिर से खोई हुई प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी। अपने उपदेशों को प्रभावशाली बनाने के लिए पादरी लोग अपनी बात को नाटकीय प्रसंगों के माध्यम से कहने लगे। ईस्टर, क्रिस्मस आदि पर्वों पर नाटक किए जाने लगे। ऐसा प्रायः बड़े-बड़े कैथेड्रलों और मठों में ही होता था, जहाँ पादरियों की काफी संख्या होने के कारण नाटक खेलना आसान होता

था। इन नाटकों में अभिनेता पादरी ही होते थे, किन्तु गिरजाघरों से बाहर खेले जाने वाले नाटकों में उनके लिए भाग लेना वर्जित कर दिया गया था। फलतः जन-साधारण मे कई कम्पनियों के द्वारा सारे योरोप मे पूजन-पद्धति-विषयक नाटक (लिटर्जीकल प्लेज) खेले जाने लगे। इंगलैंड मे ये मिस्ट्री प्लेज के नाम से ख्यात हुए, फ्रास, जर्मनी, इटली, स्पेन ग्रादि देशों मे भी ये विभिन्न नामो से प्रचलित हुए।

साधारणतः मध्यकालीन नाट्य साहित्य को तीन भागों में बाँटा जा सकता है : रहस्य नाटक (मिस्ट्री प्लेज जो धर्म-ग्रन्थों पर ग्राधारित होते थे), चमत्कार नाटक (मिरैक्ल प्लेज, जो सन्तों के जीवन पर ग्राधारित होते थे) ग्रौर नैतिक नाटक (मोरैलिटी प्लेज, जो पाप-पुण्य के सघर्ष पर ग्राधारित होते थे)। पर ये तीनो नाम ग्रपनी सीमाग्रो मे न प्रयुक्त होने के कारण प्रायः एक-दूसरे के पर्याय के रूप में भी चल पड़े हैं।[1] फिर भी कुछ विशेषज्ञों ने उनका क्रम निर्धारित किया है। उनके ग्रनुसार पहले रहस्य नाटक लिखे गये ग्रौर फिर नैतिक नाटक।[2] इन नाटको मे एक बहुत बड़ी समानता यह है कि इनका मूलभूत कथ्य कोई न कोई नैतिक उपदेश है। उनमें यह विचार मुख्य है कि पाप ग्रपरिहार्य है ग्रौर पश्चात्ताप कभी भी सम्भव है। प्रमुख विनाश-कारी पापों का संहार गुणों/पुण्यो से ही सम्भव माना जाता था; इसलिए इन नाटकों मे पाप, मृत्यु ग्रादि के चित्रण के साथ-साथ सत्, पुण्य ग्रौर पश्चात्ताप की महिमा भी गाई गयी है। मध्यकाल का प्रारम्भिक नाटक, वस्तुतः, पाश्चात्ताप का ही नाटक है। बाद मे सोलहवीं शताब्दी मे जब रेनेसाँ ग्रौर रिफॉमेशन ग्रान्दोलन चले तो नाटक इस कर्त्तव्य से धीरे-धीरे मुक्त होता गया ग्रौर पुनरुत्थान की भावना के साथ ही स्वच्छंदता, प्राचीन क्लासिक जीवन ग्रौर साहित्य के लगाव ग्रौर नयी खोज तथा जोखिम-भरे उत्साह से नाटक ग्रौर रंगमंच को सर्वथा एक नयी दिशा मिली। इस काल मे रंगमंच की बहुमुखी प्रगति हुई। इटली, इंगलैण्ड, फ्रास ग्रादि उसके केन्द्र बने।

रहस्य ग्रौर नैतिक नाटको के युग में नाटक गिरजाघरो मे होते थे। इसलिए इनमे गिरजाघरो की समाधि (सेपल्कर) को दृश्य के लिए काम में लाया जाता था—कभी-कभी ईसा को उससे बाहर निकलते हुए दिखाया जाता था। स्वर्ग, नरक ग्रादि के लिए मंच पर ग्रलग-ग्रलग स्थान नियत होते थे। यह कार्य मैन्सनों द्वारा किया जाता था। ये मैन्सन या प्रासाद दृश्य के लिए बने

१. रॉबर्ट पोटर : 'द इंगलिश मोरैलिटी प्ले', पृ० ७
२. ग्रलार्डायस निकोल : 'द डेवलपमेण्ट ग्रॉव द थियेटर', पृ० ६४ तथा जे० बी० प्रीस्टले : 'द स्टोरी ग्रॉव थियेटर'

स्थायी चिह्न होते थे जो रंगमंच पर विभिन्न स्थलों पर रख दिए जाते थे। इसके आगे रंगस्थली होती थी जहाँ नाटक खेला जाता था। स्वर्ग और देवताओं के अवतरण को दिखाने के लिए यान्त्रिक उपायों का प्रयोग होता था। इसके अतिरिक्त और भी कई चमत्कारपूर्ण दृश्यों का प्रदर्शन होता था, जैसे स्वर्ग और नरक के दृश्य, ईसा का पानी पर चलना, राक्षस द्वारा आग का निगलना आदि।

रेनेसाँ-काल में इटली में रंगमंचीय गतिविधियाँ तेज हुईं। इसके साथ क्लासिकल प्रभाव बढ़ा। इस काल में रंगद्वार का विकास हुआ और इसी समय दो प्रमुख रंगशालाएँ अस्तित्व में आईं—एक **तिएत्रो आलंपिको** (१५८५) और दूसरी **तिएत्रो फार्नोज** (१६१८-१९)। ये दोनों रंगशालाएँ इतनी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुईं कि बाद में सारे पाश्चात्य जगत् पर इनका प्रभाव पड़ा। एक तरह से इन्हें आधुनिक रंगमंच की जननी कहा जा सकता है।

इस काल में रंगमंच कला का पर्याप्त विकास हुआ। एक उपलब्धि यह थी कि जहाँ यूनानी काल में दृश्यसज्जा थी ही नहीं, रोमन काल में दीवाल को ही अलंकृत करने की पद्धति थी और नैतिक नाटकों के युग में खण्ड-चित्रों की दृश्यावली प्रस्तुत होने लगी थी, वहीं रेनेसाँ युग में दृश्यावली चित्रित करना बहुत लोकप्रिय हो चुका था।

मध्यकाल में रंगमंचीय गतिविधि के केन्द्र कई और क्षेत्र भी रहे हैं किन्तु इंगलैण्ड में ऐलिजाबेथ के राज्यकाल में नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। जब शेक्सपियर ने लिखना शुरू किया तब **ऐलिजाबेथन थियेटर** शैशवावस्था में ही था। इंगलैण्ड में नीति-प्रधान नाटकों का युग समाप्त न हुआ था। किन्तु नाटककारों का वर्ग एक ऐसा सामने आया जिसने नाटक को एक नयी दिशा दी। इसमें शेक्सपियर का नाम तो अमर है ही किन्तु उसके साथ ही लाइली, जॉर्ज पील, किड्ड रॉबर्ट ग्रीन, मार्लो आदि भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं। इसी युग में शेक्सपियर के बाद बेन जॉन्सन, फ्रांसिस ब्युमाँ, जॉन फ्लेचर, डेक्कर, वेब्स्टर आदि ने भी नाट्य-लेखन में महत्त्वपूर्ण योग दिया; किन्तु शेक्सपियर के सामने उनकी तेजस्विता प्रकट न हो सकी।

शेक्सपियर के पूर्ववर्ती नाटककारों के नाटक जिन रंगशालाओं में खेले गये उनका विकास सरायों के प्रांगणों में हुआ था। पहली स्थायी किस्म की रंगशाला १५७६ ई० में जेम्स बार्बेज ने लन्दन के बाहरी अंचल में खोली थी जिसका नाम **थियेटर** रखा गया था। वह मूलतः बढ़ई था और उसका यह थियेटर मुख्यतः लकड़ी के ढांचे से बनाया गया था। उसके बाद कई और रंगशालाएँ अस्तित्व में आईं, जैसे—कर्टेन, रोज, स्वान, ग्लोब, फॉरचून, होप आदि। इनमें ग्लोब विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसे बार्बेज के पुत्रों ने

१५९९ में बनाया था। शेक्सपियर इसी से सम्बद्ध था। बीच में (१६१२ ई०) आग से नष्ट हो जाने पर पुनः निर्मित होकर यह रंगशाला १६४४ तक विद्यमान रही। प्रायः ये रंगशालाएँ धनिकों या अभिनेता-मण्डलियों के हाथ में थीं। उदाहरण के लिए रोज, फॉरच्यून और होप एक प्रसिद्ध व्यवसायी फिलिप हेन्स्लो के अधिकार मे थीं जिन्हें उसने भाड़े पर दे रखा था। कामचोरी, अनाचार और रोग-सक्रमण की दृष्टि से इन्हें शहर से दूर स्थित किया गया था। शायद एक कारण यह भी था कि वहाँ नगर परिषदों की दखलंदाजी से बचा जा सकता था। नाटक लोकप्रिय था, पर नाटक खेलनेवालों को आवारा गिना जाता था। उच्च वर्ग के लोग नाट्य कला के संरक्षक बने, पर निम्नवर्ग के रंगकर्मियों से उन्हें परहेज भी था।

इनमें से कुछ रंगशालाओं के रेखाचित्र उपलब्ध हैं। स्वान के रेखाचित्र मे स्पष्ट है कि रंगशाला की इमारत 'एक मीठी पूरी की शक्ल की अथवा जैसा कि शेक्सपियर कहा करता था लकड़ी के गोले की शक्ल की होती थी। इसमें छज्जों की उठती हुई कतारें रहती थीं और नीचे एक गड्ढा होता था जो सराय के प्रांगणों की ही परम्परा में निर्मित होता था। विभिन्न रंगशालाओं में स्वभावतः रंगमंचों की रूपरेखा में अन्तर होता था; यद्यपि उनकी आधी छतें और उनका यवनिका से ढका भीतरी रंगमंच दोनों स्थायी रूप से बने होते थे। स्पष्ट ही यह एक ऐसी रंगशाला थी जो कलावन्तों के अभिनय के लिए बिलकुल ठीक थी। इसमें रंगमंच इतना आगे बढ़ा हुआ होता था कि वह दर्शकों के बीच तक पहुँच जाता था।'[1] शेक्सपियर से पहले रंगमंच के दो रूप थे—एक, मुक्ताकाशी खुला ढाँचा; दूसरा अन्दरूनी हॉल वाला। हॉल वाले रंगमंच वैयक्तिक होते थे। इनके रूपाकार के बारे मे अधिक सूचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। इतना ही कहा जा सकता है कि वे आकार में बड़े नहीं होते थे। सार्वजनिक रंगशालाएँ, जैसा कि ऊपर कहा गया है, गोल होती थीं, पर उनके और भी आकार होते थे; जैसे वर्गाकार, पंचकोणीय और अष्टकोणीय। रंगमंच की आधारभूत रूपरेखा अधिक जटिल न थी। उसकी सामान्य विशेषताएँ ये थीं: (१) विशाल मंच, (२) मंच की पृष्ठभूमि मे दोनों ओर दरवाजे, (३) अभिनय के लिए ऊपरी कक्ष, (४) उसमें बनी खिड़कियाँ आदि।

कुछ छोटी-छोटी बातों मे ऐलिजाबेथन थियेटर की प्रवृत्तियाँ रेनेसाँ थियेटर से मिलती-जुलती हैं। पूर्ववर्ती रंगमंचो की भाँति एलिजाबेथन थियेटर में भी भूतों, राक्षसों, आग, धुआँ आदि के प्रसंगों में यान्त्रिक विधियों का प्रयोग होता था। बिजली और बादल का प्रभाव, देवों का भूमि पर अवतरण—

१. शेल्डान चेनी : 'रंगमंच' (हिन्दी अनुवाद : श्रीकृष्णदास), पृ० ३२९

सभी का प्रदर्शन उसी परम्परा में होता था। खुले मंचों पर प्रदर्शन मध्याह्न में होते थे। हॉल में होने वाले प्रदर्शनों के लिए मोमबत्ती का प्रयोग होता था। सीनरी का प्रयोग अधिक नहीं होता था, पर रंगमंच पर शोभा-दृश्यों का अभाव न रहता था। नाटककार प्रायः किस खास कम्पनी के लिए लिखता था। इसलिए यह पात्र-रचना में प्रायः अभिनेताओं का ध्यान रखता था। कहा जाता है कि शेक्सपियर ने बार्बेज को देखते हुए कई चरित्रों की सृष्टि की थी। अभिनेताओं ने धीरे-धीरे अब प्रतिष्ठा अर्जित कर ली थी।

किन्तु ऐलिजाबेथन थियेटर की सारी गरिमा १६१६ ई० में शेक्सपियर के मरने से पहले ही क्षीण होने लगी थी। जेम्स प्रथम के राजत्व काल में प्यूरिटन (शुद्धतावादी) लोगों का बोलबाला हुआ जो नाटक के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने अपने उपदेशों में रंगमंच के अनेक दोष गिनाए और एक दिन १६४२ के प्यूरिटन पालियामेंट्री ऑर्डिनेन्स के द्वारा रंगशालाओं को बन्द करवाकर ही छोड़ा। मंच प्यूरिटनों के द्वारा घृणा का भाजन शेक्सपियर के ही जीवन काल में होने लगा था। उन्होंने इस समय के नाटकों को अनीश्वरवादी कहकर पुकारा और रंगशालाओं का अनाचार और पाप का अड्डा बताया : 'निस्सन्देह ही आप किसी पाप का नाम ले सकें जो इस गन्दे नाले में खुलकर न होता हो—चोरी और छिनालपन, घमण्ड और उड़ाऊपन, शैतानियत और ईश्वर-निन्दा—नरक के ये तीनों जोड़े कुत्ते वहाँ सदैव भौंकते रहते हैं; बहुतों को काट भी लेते हैं; ऐसा काट लेते हैं कि वे कभी अच्छे नहीं हो पाते।'[1] मजे की बात यह है कि तब शेक्सपियर जैसे जीवन्त नाटककार नाट्य लेखन में लगे थे। फिर भी धर्मोपदेशकों की दृष्टि में नाटक यही सिखाते थे कि 'अपने पति और पत्नी को कैसे धोखा दिया जाय, कैसे झूठ बोला जाय, कैसे वेश्यावृत्ति की जाय, कैसे दूसरों के पास अपनी प्रेमिकाओं को पहुँचाया जाय, कैसे उनका सतीत्व हरण किया जाय,···कैसे हत्या की जाय, जहर दिया जाय; कैसे राजाओं की अवज्ञा की जाय, विद्रोह किया जाय, खजानों को लूटा जाय···।'[2]

वस्तुतः स्थिति ऐसी थी कि प्यूरिटनों की दृष्टि में चाहे सैंकड़ों शेक्सपियर भी उस समय होते, रंगमंच उन्हें ऐसा ही दिखाई देता। परिणाम यह हुआ कि रंगमंच मृतप्राय होकर रह गया। जेम्स प्रथम और चार्ल्स प्रथम के राजत्व काल में वास्तविक नाटक खत्म हो गया और उसका स्थान पर छद्मवेशी—मास्क—लोकप्रिय हो गये। ये नाटक छद्मवेशी चेहरे लगाकर खेले जाते थे। ये रेनेसाँ युग में इटली में आविर्भूत हुए थे; सोलहवीं शताब्दी में फ्रांस में प्रचलित

१. शेल्डान चेनी : रंगमंच, पृ० ३५१
२. वही, पृ० ३५२

हुए और फिर इंगलैण्ड के राजदरबारों में। ऐलिजाबेथ ने स्वयं इन नाटकों में रुचि ली थी। ये विशेषत: दरबारी मनोरंजन के लिए लिखे जाते थे—प्राय: इनके लेखक कवि हुआ करते थे जिससे इन नाटकों का ढाँचा गीत और नृत्यात्मक होकर रह गया। इसके बाद में ओपेरा और बैले को प्रोत्साहन जरूर मिला पर नाटक की आत्मा एक तरह बुझकर ही रह गयी।

इसी समय फ्रांस और जर्मनी रंगमंचीय गतिविधि के केन्द्र बने। १६०० ई० के लगभग पेरिस में एक ही रंगशाला थी 'होस्टल दे बूरगॉन।' १६२९ में 'मेलाइन' और १६३४ में तीन टेनिस कोर्टों को रंगमंच के लिए अधिकार में लिया गया। पियरे कॉरनेली, रेसीन, वॉल्तेयर, मोलियर आदि ने फ्रांसीसी नाटक और रंगमंच को शक्ति प्रदान की। फिर भी रंगमंच विलासी दरबारियों, वारांगनाओं, और नौसिखुवे कलाकारों के हाथ में था। और इसके बाद रंगमंच बैले, ओपेरा, चमत्कारों और महान् अभिनेताओं के हाथ में चला गया। फ्रांस और इटली में बैले और ओपेरा विशेष रूप से लोकप्रिय हुए और गैरिक जैसे अभिनेताओं ने रंगमंच को महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

जर्मनी की रंगशाला बहुत समय तक सामान्य स्थिति में रही। १२०० से १८०० तक का काल उसके लिए बिल्कुल प्रारम्भिक काल कहा जा सकता है। मंच के नाम पर खाली कमरे या चबूतरे थे। अभिनय भी विदूषकों जैसा था। फिर भी यह अनगढ़ रंगमच मध्ययुग में सारी जर्मनी में सक्रिय था। वहाँ भी या तो धार्मिक नाटकों का प्रचलन था या ग्रामीण समाज में निम्न स्तरीय हास्य नाटकों का बोलबाला। किन्तु धीरे-धीरे बाहरी प्रभावों और अन्दरूनी प्रयासों से कलात्मक जागरूकता का आविर्भाव हुआ। इसका एक जीता-जागता उदाहरण था लेसिंग (१६२९-८१) का लेख संग्रह हैम्बर्ग ड्रैमेटर्जी (हैम्बर्ग नाट्यशास्त्र—हैम्बर्ग का नाम साथ इसलिए जुड़ गया क्योंकि यहीं १७६७-६६ में प्रथम जर्मन राष्ट्रीय रंगशाला की स्थापना की जा रही थी और इसी समय लेसिंग के ये निबन्ध छपे थे)। वह स्वयं एक नाटककार था, और रंगमंच को एक नया रूप देने का पक्षपाती था। इस चुनौती को गेटे और शिलर ने स्वीकार किया। लेसिंग के बाद परवर्ती नाटककारों की साहसिकता और क्रियाशीलता को व्यक्त करने वाला युग स्तर्म अंद ड्रंग के नाम से अभिहित हुआ। गेटे (१७४९-१८३२) और शिलर (१७५९-१८०५) दोनों कवि और उन्होंने नाटक को काव्यात्मक ऊँचाइयों तक पहुँचाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। दोनों के प्रयासों से रंगमंच ने पर्याप्त प्रगति की। इसी समय श्रोडर और इफलैण्ड ने अभिनय में नयी प्राण-प्रतिष्ठा की और सर्जक कलाकार की

भूमिका ग्रदा की।

उन्नीसवी सदी के कुछ प्रारम्भिक दशक पाश्चात्य रंगमंच के इतिहास मे बहुत विशिष्ट नही रहे। इन्हीं वर्षों में कई स्वच्छंदतावादी कवियों ने नाट्य की ग्रोर प्रवृत्ति दिखाई, पर वे रंगमंचीय उपलब्धियों के ग्रभाव में ग्रसफल सिद्ध हुए। रंगमंच के क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना १८३० की एक रात को घटी जब विक्टर ह्यूगो (१८०२-१८८५) का नाटक हरनानी के प्रदर्शन ने उथल-पुथल मचा दी। ह्यूगो ने क्लासिक रूढ़ियो को भंग कर दिखाया। इसमे भी पूर्व १८२७ क्रॉमवेल की भूमिका मे वह महत्त्वपूर्ण घोषणा कर चुका था। ह्यूगो नाटककार की ग्रपेक्षा कवि था; पर उसके साहसिक प्रयोगों ने रंगमच को नयी प्राणवत्ता दी। उसके बाद ड्यूमा ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। फलतः रंगमच पर स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ हावी हो गयी। पर उसी के साथ ही सुरचित नाटकों का जन्मदाता यूजीन स्क्राइब (१७६१-१८६१) भी लोकप्रिय नाटककारों मे था जिसका मुख्य उद्देश्य रंगमंच पर प्रभावशाली ग्रौर चकित करने वाले दृश्यों ग्रौर नमूने के चरित्र उपस्थित करना मात्र था। उन्नीसवी शताब्दी के ग्रन्त तक इस तरह के नाटक छोटी-छोटी नाट्यशालाग्रों में खेले जाते रहे। रंगमंच पर परम्परा ग्रौर रूढ़ि की माँग धीरे-धीरे घटती गयी। ग्रभिनय ग्रौर प्रकाश योजना में भी कला के नये ग्रायाम उभरे।

नूतन रंगमंचीय ग्रवधारणाग्रों तथा दृष्टियो के लिए बीसवी शती रंगमंच के इतिहास मे ग्रविस्मरणीय रहेगी। यह शती रंगमंच के क्षेत्र में विद्रोह की शती कही जा सकती है। इस समय थोड़-थोड़े ग्रन्तराल के बाद रंगमंच के क्षेत्र में निरन्तर नयी-नयी विचारणाग्रो का प्रवेश होता गया। इस युग में पहली बार उन रंगचेताग्रों का ग्राविर्भाव हुग्रा जिन्होंने ग्रपने रंगदर्शन से थियेटर कला को नया उन्मेष दिया। एडोल्फ ग्रप्पिया ग्रौर गोर्डन क्रेग ने रंगमंच के व्यावहारिक पक्ष को ग्रपने चिन्तन से प्रभावित किया। क्रेग ने यथार्थवादी विधि का विरोध किया—वह एक ऐसे रंगमंच का स्वप्नद्रष्टा था जिसकी दृष्टि में रंगमंच एक मन्दिर था। इसी युग में परिचालक की कला का विकास हुग्रा—रेनहार्ट, मेयरहोल्ड, स्तानिस्लावस्की, ब्रेख्त ने ग्रपने निर्देशनों से रंगमंच को नयी दृष्टि दी। एक ग्रौर महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि रंगमंच इस समय कला के कई वादों के प्रभाव में ग्राया। यथार्थवाद, प्रतीकवाद, प्रभाववाद, ग्रभिव्यक्तिवाद, ग्रतिप्राकृतवाद, दादावाद, घनवाद, निर्माणवाद—सभी से रंगमंच प्रभावित रहा। सारी सदी का रंगमंच इन्हीं वादों के घेरे में विकसित हुग्रा है ग्रौर उसका सारा स्वरूप इन्ही पर निर्भर करता है।

रंगमंच : वादों और विशेषणों के घेरे में

७

रंगमंच की सारी पुरानी परिभाषाएँ आज जैसे मिट गयी हैं। पश्चिम में रंगमंच उन्नीसवी शती के साथ मात्र संज्ञा बनकर नहीं रह पाया, उसके साथ कई विशेषण जुड़ गये जैसे—स्वच्छंदतावादी, यथार्थवादी, अभिव्यक्तिवादी, अति-यथार्थवादी, प्रतीकवादी, विसंगतिवादी आदि। इस प्रकार सारा रंगकार्य वादों के घेरे में घिरा दिखाई देता है। एक युग था जब रंगमंच मनोरंजन का पर्याय था, अब वह एक पूरी सदी से प्रतिबद्ध है और एक सुविचारित चिन्तन और कला-दृष्टि से सपृक्त है। किसी समय क्लासिकल प्रवृत्तियों का बोलबाला था; तब रंगमंच पर नियन्त्रण, व्यवस्था, आदर्श, मर्यादा आदि प्रवृत्तियों पर बल दिया जाता था। फिर स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों के साथ काव्यात्मक तत्त्व, विचार स्वातंत्र्य, प्रकृति-प्रेम, तीव्र संवेदना प्रेरित स्वप्न और यथार्थ का विलक्षण समन्वय दृष्टिगत हुआ। और उसके बाद तो साहित्य और कला के क्षेत्र में निरन्तर १०-१५ बरसों के अन्तराल के साथ कोई न कोई नया वाद जन्म लेता रहा जिसने नाटक और रंगमंच को भी प्रभावित किया और उसे नयी दिशा दी।

यद्यपि स्वच्छंदतावाद का काल १८००-१८५० माना जाता है, पर उसकी प्रवृत्तियाँ अट्ठारहवीं शती में ही सक्रिय हो चली थीं। इस काल में विचार-धाराओं में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आने लगा था। उदाहरण के लिए तर्क और बौद्धिकता के विरोध में सहज प्रवृत्ति को मानव और चिन्तन और कर्म का आधार स्वीकार किया गया; सामाजिक और राजनैतिक प्रणालियों के प्रति शंका का भाव पैदा हुआ और इसी के साथ मानव की समानता और स्वतन्त्रता का आदर्श पनपा। वस्तुतः यह एक ऐसी बेचैनी का युग था जिसको लाने में औद्योगिक विकास और फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति का बहुत बड़ा हाथ था। वस्तुतः महामारी, सामाजिक गतिशीलता, अभाव और औद्योगिक क्रान्ति के

बीच एक नया आदमी पैदा हो रहा था जो अन्यायों के प्रति सजग और मुखर था। दूसरी ओर उसके स्वप्न, आशा और आकांक्षाएँ समाजवाद का बीज-वपन कर रही थीं।

युवा शक्ति की आशाओं और आकांक्षाओं ने, विचारों की उड़ान और आदर्शों ने, विश्वमानव और विश्व मैत्री की भावनाओं ने, यथार्थ और भ्रमों ने स्वच्छंदतावाद का संस्कार किया था। साहित्य और कला के क्षेत्र में यह ऐसे मनोमय जगत् का प्रतीक था जिसके पास भावों का अपार वैभव था, आत्माभिव्यक्ति के लिए अद्भुत प्यास थी। उनसे पूर्व यह विचारधारा मान्य थी कि सब कलाएँ अनुकृति पर निर्भर करती हैं। किन्तु स्वच्छंदतावादियों ने कला और साहित्य के साथ आत्माभिव्यक्ति को जोड़कर दिखाया। उनके लिए कृति-अनुकृति मात्र न होकर आन्तरिक अभिव्यक्ति का माध्यम थी जिसमें भाव-बाहुल्य और उनकी स्वत:प्रवर्तिता मुख्य थी। स्वच्छंदतावादी साहित्यकार भावना के प्लावन के साथ आत्मा की ओजस्विता और युवा शक्ति के स्वानुभव से अभिभूत थे और उन्होने जगत् को कल्पना की उस रंगीनी से देखा जिससे उसका एक भिन्न और असामान्य रूप उभरकर आया।

जहाँ तक नाटक का प्रश्न है, शेक्सपियर ने स्वच्छंदतावाद को महत्त्वपूर्ण देन दी; किन्तु उसका प्रभाव दूसरे देशों मे ही अधिक मुखर हुआ। इंगलैण्ड मे शेली (सेंसी), कीट्स (ओथो द ग्रेट), बाइरन (मैन्फ्रेड), वर्ड्स्वर्थ (बोर्डरर्स), रॉबर्ट साउदे-कोलरिज (द फाल आव रोबसपियर) आदि कवियों ने नाटक लिखे, पर वे आत्मपरकता, नाटक और काव्यतत्त्व के अलगाव और रगमंच के अज्ञान के कारण असफल सिद्ध हुए। १८०० ई० के आसपास जब स्वच्छंदतावाद ने जर्मनी मे प्रवेश किया तो वहाँ नाटक और रंगमंच के क्षेत्र मे अनेक सिद्धियाँ सामने आयीं। लेस्सिग, गेटे और शिलर ने नाट्य रचना में महत्त्वपूर्ण योग दिया। जब स्वच्छंदतावादी आन्दोलन जर्मनी में समाप्त हो रहा था, तभी फ्रांस की धरती पर उसका अगला चरण पड़ा। नेपोलियन ने स्वच्छंदतावाद और रंगमंच को दबाने की कोशिश की, किन्तु उसके पतन के बाद विक्टर ह्यूगो, अलेक्जेण्डर ड्यूमा, म्यूसे (१८१०-५७) ने नाटक के क्षेत्र मे स्वच्छंदतावाद को प्रतिष्ठित किया।

स्वच्छंदतावादी नाटककारो ने शाश्वत और अद्भुत, आदर्श और मूर्त की तलाश मे कथानक के रूप मे प्राय: इतिहास को ही चुना। इतिहास का स्थूल कंकाल प्रस्तुत करने की अपेक्षा उन्होंने घटनाओं और पात्रो को रक्त और मास से युक्त किया। उनकी अवधारण में उन्होंने आत्मिक शक्ति और नियति के दाय को स्वीकार किया। नाट्यशिल्प के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। नाटककारों ने कई क्लासिकल रूढ़ियों को तोड़ा। उदाहरण के लिए उन्होंने

देश, काल और प्रभाव की अन्वितियों पर विशेष ध्यान नहीं दिया और नाटक की अवधारणा काल की परम्परा में प्रवहमान क्रियाकलाप के रूप में की जिसमें सामग्री और दृश्य के संचयन में पर्याप्त स्वाधीनता बरती गयी। स्वच्छंदवादी नाटककारों ने भावों के साथ ही पात्रों, स्थितियों और संवादों के बाहुल्य पर बल दिया। इस प्रकार की बहुलता के कारण ही उनका नाट्य लेखन अनेक मनोदशाओं, भावों, अभिप्रायों और आवेगों, दूसरी ओर अनेक कथानकों, कथ्यों और चरित्रों को लेकर बहुत जटिल हुआ दीखता है। क्लासिकल नाटक में जहाँ समरूपता के दर्शन होते हैं, वहाँ स्वच्छंदतावादी नाटक वैविध्य से ग्रस्त है। उनमें शौर्य और कारुण्य का अद्भुत समन्वय मिलता है। इस प्रकार की आन्तरिक बुनावट भावनाओं में ही नहीं, पात्रों और प्रसंगों में भी मिलती है। भावना पर अधिक बल देने के कारण स्वच्छंदतावादी नाटक भावुकता तथा इंद्रिय संवेदनों से परिपूर्ण दिखाई देता है। फिर भी कल्पना, सौन्दर्य भावना और सामान्य की अपेक्षा असामान्य को महत्त्व देने की दृष्टि से उसे विलक्षण ही कहा जा सकता है।

यही रोमानी दृष्टि रंगमच पर भी उभरकर सामने आई। डेविड गैरिक (१७१६-१७७९) यद्यपि रोमानी अभिनेता नहीं था, पर समस्त योरप में उसके अभिनय का प्रभाव फैला। बाद में रोमानी अभिनेता ऐडमंड कीन ने स्वच्छंदतावादी अभिनय शैली का विकास किया। शेल्डान चेनी के इन शब्दों से स्वच्छंदतावादी अभिनय का उसकी देन को आँका जा सकता है : 'यदि ऐडमंड कीन को रोमांसवादी काल का उत्तम अभिनेता माना जाय तो यह भी स्वीकार करना होगा कि इस काल में अभिनय के क्षेत्र में भी नवीन पंथ तैयार हुए।''' रोमासवादी नाटकों के लक्ष्य को वह पूरा-पूरा समझता था और इसीलिए अभिनय की कला को वह इतनी ऊँचाई तक ले गया कि पहले की प्रायः सभी अभिनय-परम्पराएँ झूठी पड़ गयी। कॉलरिज ने लिखा है : 'कीन को अभिनय की मुद्रा में देखना ऐसा ही है जैसे शेक्सपियर की रचनाओं में बिजली की चौंध में हृदयंगम करना।' कीन ने अभिनय की भव्यता में प्रकृति की स्वाभाविकता का सामंजस्य किया; और अभिनय करते समय कदाचित् नाटककार की भावनाओं से भी अधिक गहराई तक पहुँचा। उसको पात्रों के अंतःकरण की सूक्ष्म और सच्ची पहचान थी और इसीलिए वह उन्हें अभिनय में साकार भी कर पाया।'''रंगमंच से परे भी उसका जीवन ऐसा ही था—प्रखर, प्रमत्त और निर्बंध।'[1] फ्रांस में तालमा, फ्लेरन, लेमैत्रे तथा जर्मनी में लुडविग देव्रायन्त ने भी कीन की भाँति ही अभिनय को नये आयाम प्रदान किए। 'लुडविग

१. शेल्डान चेनी : रंगमच, हिन्दी अनुवाद, पृ० ५०८

देव्रायन्त में भी हमें वही उन्माद, वही सम्मोहन और वही चमत्कार देखने को मिलता है जो ऐडमन्ड कीन में।'[1] फ्रांसीसी अभिनेता ताल्मा ने अभिनय मे एक क्रान्ति की। इसी काल में स्वच्छदतावादी अभिनेताओं में फ्रेडरिक लेमैत्रे ने अति-नाटकों के अभिनय मे प्रेक्षकों को मंत्रमुग्ध किया। स्वच्छंदतावादी अभिनेताओं के लिए अभिनय उनका जीवन था। और सबसे विचित्र बात स्वयं उनका जीवन था। वस्तुतः रोमासवादी धारा का अभिनेता भी एक अजीब प्राणी होता था। 'उसके बाल लम्बे, उलझे तथा प्रायः काले होते थे जिनकी पृष्ठभूमि में उसका चेहरा पीला और पतला दिखाई पड़ता था। आँखें उदास और गहरी होती थी तथा भौहें काली और खिची-खिची-सी। उसकी मुस्कराहट मे भी एक खास दर्द, एक खास कड़ुवाहट होती थी और उसके ओठ हिलते-से जान पड़ते थे। वह लम्बा-सा रोमन लबादा पहनकर अपने मित्रों के बीच एक अजब आडम्बर अथवा कृत्रिमता के भाव से विचरता था—अत्यन्त उदास, खोया-खोया-सा, कभी-कभी हँस भी देता था—एक अत्यन्त खोखली और जुगुप्सित-सी हँसी।'[2]

स्पष्ट है कि स्वच्छन्दतावादी अभिनय में अनुभूति की एक विचित्र गहराई थी और उसके माध्यम से अभिनय का एक ऐसा रूप सामने आया जिसमें अभिनेता की सफलता श्रोता के सामने भव्य, विषादपूर्ण और काव्यमय दीखने में निहित थी। निश्चयतः स्वच्छन्दतावादी अभिनय ने अतिरंजना, भावुकता, प्रचण्ड उन्मत्त भगिमा को ही अधिक प्रश्रय दिया। कहा जाता है स्वच्छन्दता-वादी अभिनेता मंच पर एक विशिष्ट मुद्रा में प्रवेश करते थे और सम्वादों की अदायगी मे बड़े प्रभाव से काम लेते थे। जब बोलते-बोलते सम्वाद एक निश्चित आरोह पर पहुँच जाता था, तो अन्तिम पंक्ति पर हुए धमाके के साथ दाहिनी बाँह उठाकर अभिनेता बहिर्गमन कर जाता था।

रंगमच के क्षेत्र मे स्वच्छन्दतावाद की बहुत बड़ी देन नहीं रही है। किन्तु रगमंच मे इस काल मे कई ऐसे परिवर्तन हुए हैं जो स्वच्छन्दतावाद के साथ जुड़े हैं। एक परिवर्तन यह था कि बड़ी रंगशालाओं के प्रति आकर्षण बढा। यह स्वाभाविक था क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति के बाद प्रेक्षकों की संख्या निरन्तर बढती जा रही थी। दूसरी बात यह थी रंग-पल्लव (ऐप्रन) और मंचाग्र द्वार समाप्त होते गये। इससे पर्दे का उपयोग बढा। अब स्थिर दृश्यों को छिपाने, मध्यान्तर और अंक विभाजन को द्योतित करने के लिए पर्दा महत्त्वपूर्ण उप-करण के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ। दृश्य-सज्जा में पुरातत्व विषयक तथा शान-दार भड़कीले तत्त्वों का समावेश मुख्य हो गया जिसमें यथार्थ के लिए बहुत

१. शेल्डान चेनी · रगमच, हिन्दी अनुवाद, पृ० ५१२
२. वही, पृ० ५१३

गुंजाइश नहीं थी। गैस लाइट के प्रयोग के साथ एक नया कलात्मक माध्यम स्वच्छन्दतावाद के हाथ आ गया जिससे मंच पर कई अद्भुत उपलब्धियाँ सम्भव हुई। प्रकाश को मन्द करने, बिल्कुल अँधेरा कर देने या उससे स्वप्निल दृश्यों की सत्याभासी सृष्टि करने मे गैस लाइट विशेष रूप से सहायक हुई। इसके बाद जब बिजली के प्रकाश का उपयोग शुरू हुआ तो रंगमंच की दुनिया ही बदल गयी।

हमारे देश में स्वच्छन्दतावादी रगमंच की यह परम्परा पारसी रंगमंच में मुखर हुई। दुर्भाग्य से पारसी मंच उसका विकृत रूप बनकर ही उभरा। हिन्दी के नाटककारो ने उसकी घोर उपेक्षा और निन्दा की। प्रसाद ने स्वच्छन्दतावादी नाटक लिखे, पर पारसी रंगमच के पास नहीं फटके; उससे प्रभावित हुए, पर उसके समानान्तर कोई स्वच्छन्दतावादी परिष्कृत रंगमंच न दे सके।

स्वच्छन्दतावाद के साथ **यथार्थवाद** नाटक और रंगमंच का मुख्य स्वर बना। कुछ आलोचकों का विचार है कि यथार्थवाद का जन्म स्वच्छन्दतावाद की प्रतिक्रिया मे हुआ। इससे भी भिन्न एक विचारधारा यह भी है कि यथार्थवाद स्वच्छन्दतावाद का औरस पुत्र है। इस मतवाद मे न पड़कर हम इतना कह सकते हैं कि यथार्थवाद का जन्म नयी सामाजिक, राजनीतिक और वैचारिक परिस्थिति का परिणाम है। उन्नीसवीं शताब्दी मे विश्व सामाजिक, राजनीतिक और वैचारिक परिवर्तन के एक नये दौर से गुजरा जिसमें स्वच्छन्दतावाद के स्वप्निल आदर्श अव्यावहारिक-से लगने लगे। यह युग एक ओर मध्यम वर्ग के विकास और जनतन्त्र के उदय का युग था, दूसरी ओर वैज्ञानिक दृष्टि का। जनतन्त्र की भावना के साथ जन-साधारण का महत्त्व बढ़ा और विज्ञान के साथ व्यक्ति के विश्लेषण का। लोकतन्त्र ने नाटक को नये विषय दिये, विज्ञान ने यथार्थ की पहचान। यथार्थवादी नाटककारों—इब्सेन, (१८२८-१९०६), हॉप्टमान (१८६२-१९४६), चेखव (१८६०-१९०४)—सभी मे वैज्ञानिक दृष्टि विद्यमान थी। जोला को विज्ञान से विशेष लगाव था; स्ट्रिंडबर्ग कई रासायनिक प्रयोगों और मनोविज्ञान में निरत रहा; इब्सेन अतः-प्रज्ञा से ही वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त थी। चेखव ने आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की थी और डार्विन को उसने बड़े मनोयोग से पढ़ा था। इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि के कारण यथार्थवादी नाटककारों की दृष्टि मानव, जीवन और जगत् के प्रति वैज्ञानिक थी। विज्ञान ने उन्हें वस्तुपरकता, निर्वैयक्तिकता, और यथातथ्य विवरण की प्रवृत्ति दी। पर वैज्ञानिक मानव की व्याख्या भी रसायन या

भौतिक विज्ञान के नियमों के अनुसार करने लगा था; इब्सेन, चेखव आदि नाटककार विज्ञान के यथार्थ से भी आगे बढ़े। १८६७ में मार्क्स ने एक नयी सामाजिक अवधारणा प्रदान की जिसने नाटक को एक सही वैचारिक आधार प्रदान किया। इसके फलस्वरूप नाटक में एक ओर स्वच्छन्दतावाद के प्रतिक्रिया-स्वरूप आदर्श, आत्मपरकता, भावुकता, कल्पना, भव्यता, अतीत-प्रेम आदि का तीव्र विरोध हुआ, दूसरी ओर यथातथ्य, अनुकृति, समस्या, जन-साधारण आदि का महत्त्व बढ़ा।

यथार्थवाद का आन्दोलन १८५० के आसपास जोरों पर आया। स्वच्छन्दतावाद इसके लिए पहले ही रास्ता बना चुका था। यूजीन स्क्राइब, ड्यूमा आदि की देन भी इस दिशा में कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही; किन्तु यथार्थवाद के प्रवर्त्तन का वास्तविक श्रेय नाटक के क्षेत्र में इब्सेन को जाता है। इंग्लैण्ड में पिनरो (१८५५-१९३४), हेनरी आर्थर जोन्स (१८५१-१९२९), जॉन गाल्सवर्दी (१८६७-१९३३), जॉर्ज बर्नार्ड शॉ (१८५६-१९५०) ने तथा रूस में गोगोल (१८०९-१८५२) तथा तुर्गनेव (१८०८-१८८३) ने इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसी की एक शाखा के रूप में जोला (१८४०-१९०२) ने प्रकृतवाद को जन्म दिया; किन्तु अपने उपन्यास थेरेसे रेक्विन के नाट्य रूपान्तर के बावजूद भी उसे नाटककार के रूप में कोई विशेष सफलता नहीं मिली। प्रकृतवाद के सफल नाटककार के रूप में मात्र हेनरी बीक (१८७८-१९३८) का स्मरण किया जाता है। बाद में प्रकृतवाद का समावेश यथार्थवाद के अन्तर्गत ही हो गया।

यथार्थवादी नाटककारों की विचारधारा वस्तुतः उनके अपने युग से उपार्जित विचारधारा थी। इस विचारधारा के कारण साहित्य विज्ञान का रसात्मक प्रतिरूप बना। जीवन और मानव की व्याख्या के लिए उसने वे मानदंड खोजे जिनके अनुसार मनुष्य और उसका आन्तरिक जगत् सहज है; उसका व्यवहार उसकी प्रकृति और परिवेश पर निर्भर करता है। इसीलिए मनुष्य को समझने के लिए उसकी पृष्ठभूमि को समझना अनिवार्य है। इस वैचारिक आधार को लेकर यथार्थवादी नाटककारों ने मानव-इच्छाओं, आकांक्षाओं, दुर्बलताओं, कुंठाओं के सामने अपना दर्पण टिकाया जिससे समाजशास्त्रीय दृष्टि का विकास हुआ। नाटककार सुधार, विद्रोह और स्वातन्त्र्य की भावना से प्रेरित था क्योंकि उसने अपने ऊपर एक वैचारिक दायित्व ओढ़ लिया था।

नाट्य-लेखन में जिस प्रकार एक प्रकार का परिवर्तन यथार्थवाद के नाम से आया, उसी प्रकार रंगमंच के क्षेत्र में भी एक नये युग का समारम्भ हुआ। १८४३ में पेटेंट रंगशालाओं की परम्परा समाप्त हुई और उसके साथ ही छोटी रंगशालाओं का प्रचलन हुआ। रंगशालाएँ कृत्रिम और राजसी अभि-

वाद की प्रतिक्रिया में उन्नीसवीं शती के उदय के साथ प्रतीकवाद, अभिव्यक्तिवाद, अतियथार्थवाद, विसंगतिवाद आदि कई विचार-आन्दोलनों को जन्म दिया।

१८९० में कवि पॉल फोर्ट द्वारा पेरिस में थियेटर द' आर्ट की स्थापना के साथ ही नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। यह थियेटर प्रतीकवाद का प्रबल समर्थक था। प्रतीकवादी विचारधारा के पीछे एक निश्चित जीवन-दर्शन था। प्रतीकवादियों का विचार था कि चरम सत्य का साक्षात्कार केवल इन्द्रियों और तर्क से सम्भव नहीं है। सत्य को अन्तःप्रज्ञा से ही ग्रहण किया जा सकता है। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति भी सीधी और सरल नहीं है। कोई भी नाट्य कृति इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होती है। सुप्रसिद्ध प्रतीकवादी कवि-नाटककार मौरिस मेटरलिंक (१८६२-१९४९) का कहना है कि नाट्य कृति का अपना शाब्दिक सौन्दर्य होता है, एक विशेष चिन्तन। उसमें हमारे अन्तर और बाह्य का भावात्मक चित्रण होता है। नाटक का लक्ष्य यद्यपि मानवीय क्रिया-व्यापारों को प्रस्तुत करना होता है; किन्तु उसकी वास्तविक सिद्धि परम सत्य से सम्बद्ध अंतःप्रज्ञा को संप्रेषित करने में है जिसे शब्दों में ठीक-ठीक व्यक्त करने की अपेक्षा केवल प्रतीकों में व्यंजित किया जा सकता है। पियरे क्विलर्ड ने अपने नाटक की भूमिका में इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक नाट्य रचना एक संश्लेषण (सिन्थीसिस) है जिसमें मनोभाव असामान्य सघनता लिये हुए अवतरित होते हैं। कवि उन्हें अलौकिक प्रेरणा से अनुप्राणित करता है और वे एक संपूर्ण विश्व को उद्घाटित करते हैं जिसमें सारा स्थूल जगत् स्वप्निल स्थापत्य ग्रहण कर लेता है।

वस्तुतः प्रतीकवाद स्वच्छंदतावाद का ही एक परिष्कृत नवोन्मेष था। यह यथार्थवाद की भाँति यथार्थ के कृत्रिम स्थूल स्वरूप के प्रत्यंकन को मान्यता देने के बजाय उसमें कल्पना, भव्यता और काव्य का समाहार करता है। अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में प्रतीकवाद सीधे और सरल वाचिक माध्यम को महत्त्व नहीं देता वरन् उसके लिए प्रतीकों की अनिवार्यता को स्वीकार करता है। उसका लक्ष्य अमूर्त भावों को ऐसे प्रतीकों से आवृत्त करना रहा है जो इंद्रिय संवेगों के आधार पर संवेद्य बन सकें। उनकी दृष्टि में प्रतीक एक ऐसी वस्तु या कार्य है जिसके आन्तरिक और बाह्य दोनों मूल्य होते हैं। इसलिए प्रतीक, चाहे वह कला में हो या नाटक में, वह कई मूल्यों का केन्द्र होता है और वह अर्थ के कई स्तरों को उजागर करता है। प्रतीकवाद ने नाटक और रंगमंच पर पर्याप्त प्रभाव डाला। मेटरलिंक (१८६२-१९४९), रोस्तां (१८६८-१९१८), हॉफ-मैन्स्थल (१८७३-१९२९), हॉप्टमान (१८६२-१९४६), क्लॉडेल (१८६८-१९५५), येट्स (१८६५-१९३९), ऑस्कर वाइल्ड (१८५४-१९००) आदि

ने प्रतीकवादी नाट्य रचना में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इन नाटककारों ने मानवता, धर्म, नीति, आत्मिक चेतना, सत्य, सौन्दर्य और रहस्यानुभूति को अपना कथ्य बनाया। भीड़ के जीवन से अलग इन्होंने व्यक्ति के रहस्यमय सौन्दर्य-जगत् और अन्तर्मन की गहराइयों मे उतरने का प्रयास किया और अपने नाटकों में स्थूल यथार्थ से भिन्न एक आत्मिक यथार्थ की रचना की।

यह रंग-दार्शनिकों का युग था। पिरांदेलो और स्ट्रिंडबर्ग पहले ही नाटक को वैचारिक दिशा-संकेत दे चुके थे। अप्पिया और क्रेग के सारे रंगीय क्रिया-कलाप यथार्थवाद की जड़ उखाड़ने में लगे थे और रंगमंच पूर्णत: कला-आन्दोलनों की गिरफ्त में आ चुका था। अप्पिया (१८६२-१९२८) और क्रेग (१८७२-१९६६) यद्यपि प्रतीकवादी न थे, पर वे उनकी परम्परा मे ही थे। अप्पिया विभिन्न दृश्य तत्त्वों के बीच एक मूलभूत एकता का पक्षपाती था। उसने प्रकाश का प्रयोग संगीत की भाँति कर दिखाया। क्रेग सरल दृश्य-सज्जा, वेशभूषा और प्रकाश-योजना का पक्षपाती था। उसने एक ऐसे मंच का स्वप्न देखा था जिसे मन्दिर की संज्ञा दी जा सके। उसने मंच पर ऐसे दृश्य विधान को जन्म दिया जो अपनी कलात्मक एकता से एक विशेष मनोदशा की उपलब्धि में सहायक हो। इसी परम्परा को आगे बढाते हुए प्रतीकवादियों ने रंगमंच पर आध्यात्मिक सत्याभास का सर्जन करना अपना मुख्य लक्ष्य बनाया जो एक प्रकार का सम्मोहन पैदा कर सके। वे कृत्रिम दृश्यावली के पक्ष मे नहीं थे, बल्कि उसका प्रयोग नाटकीय काव्य द्वारा सर्जित सुन्दर सत्याभास को बनाये रखने में करना चाहते थे। इसके लिए वे संगीत का भी प्रचुर उपयोग करते थे। उनका विश्वास था कि नाटक और रंगमंच को एक शाश्वत आध्यात्मिक अर्थ देने के लिए सारी प्रस्तुति को एक आत्मा प्रदान करना जरूरी है और यह तभी सम्भव है जब उसके मूल में एक केन्द्रीय भाव हो। यह केन्द्रीय भाव भौतिक जगत् के स्थूल सत्यों की अपेक्षा रहस्यात्मक-काव्यात्मक जगत् का बोधक था। और इस सबके लिए प्रतीकवादियों ने भावों को गोचर रूप देने का प्रयास किया; दृश्य विधान को अधिक कलात्मक बनाया, अभिनय पर विशेष बल दिया। संक्षेप में कहें तो प्रतीकवाद ने काव्यात्मक रंगमंच की रचना की।

कहा जाता है कि अभिनय और दृश्य सज्जा की प्रतीकवादी प्रणाली ने रंगमंच का सत्यानाश ही कर डाला। दृश्य सज्जा के लिए उन्होंने वास्तविक चित्रकारों का सहयोग प्राप्त किया जिन्होंने प्रकृति का अनुकरण करके मंच पर चित्रित फलकों, कार्डबोर्डों और लकडी के तख्तों का ढेर लगा दिया। इससे कृत्रिम अलंकरण की प्रवृत्ति जागी और चित्रकला का नाटकीय प्रयोग न हो सकने के कारण सब कुछ निर्जीव होकर रह गया। दूसरी ओर अभिनय शैली-

बद्ध हो गया। मेटरलिंक की सलाह थी कि अभिनेता को मंच पर काव्यात्मक भावों के बाह्य प्रतीक प्रस्तुत करने चाहिए। किन्तु सचाई यह है कि अभिनेता को कभी भी प्रतीक के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। रूसी निर्देशक मेयरहोल्ड ने तो फ्रांसीसी प्रतीकवादियों के प्रभाव में जहाँ बहुत सारे प्रयोग किए, वहाँ एक प्रयोग यह भी किया कि उसने चित्रांकित पर्दों और दृश्य विधान के बीच अभिनेता को रंगबिरंगी वेशभूषा पहनाकर इस तरह खड़ा कर दिया कि वह कोई व्यक्ति न लगकर एक चित्र जैसा लगे। इसी से प्रतीकवादी रंगमंच पर नाटक गति और क्रिया-व्यापार से विरहित होकर स्थिर हो गया। काव्य को भले ही प्रतीकवाद की देन महत्त्वपूर्ण रही हो, रंगमंच और नाटक को उससे कोई सही दिशा नहीं मिल पाई।

इसी समय नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में अभिव्यक्तिवाद का प्रभाव बढ़ा। १६०० के आस-पास प्रतीकवाद समाप्त हो चला था। इसी समय जर्मनी में अभिव्यक्तिवाद का बिल्ला उन रचनाओं पर लगाया जाने लगा था जो वैन्गॉफ की कलाकृतियों के अनुकरण पर लिखी गयी थी (वैसे गोगाँ और वैन्गॉफ को प्रतीकवादी चित्रकार भी माना जाता है)[1]। कला के क्षेत्र में इसका समारम्भ जर्मनी मे उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ में हुआ था। इस समय कई ऐसे अभिव्यक्तिवादी चित्रकार उभरकर आये जो अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को विलक्षण और अस्वाभाविक तत्त्वों के द्वारा व्यक्त करते थे और अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त बनाने के लिए विकृति का सहारा लेते थे। इसी की प्रेरणा के फलस्वरूप १६१० से लेकर १६२० तक इस क्षेत्र में अनेक प्रतिभाशाली नाटककार उतरे और १६२५ तक यह आन्दोलन ही मृतप्राय हो गया। अभिव्यक्तिवादी नाटककारों मे स्ट्रिंडबर्ग (१८४९-१९१२) और वेडेकिंड (१८६४-१९१८) तो विशेष रूप से ख्यात हैं। किन्तु अर्न्स्ट टोलर (१८९३-१९३९), जॉर्ज कैसर (१८७८-१९४५) का दाय भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है। कुछ आलोचक पिरादेलो (१८६७-१९३६) को भी इसी परम्परा में मानते हैं। अन्य अभिव्यक्तिवादी नाटककारों में एलमर राइस, यूजीन ओ' नील आदि भी उल्लेखनीय हैं।

अभिव्यक्तिवाद का आविर्भाव यथार्थवाद के विरोध मे हुआ था। इस विरोध के मूल मे यह भाव सक्रिय था कि मनुष्य, उसके आसपास और अंतर्जगत् में अनेक रहस्यात्मक शक्तियाँ सक्रिय रहती हैं। उनकी तलाश उसके अंतर्जगत् मे ही सम्भव है। इस अन्तर्जगत् तक पहुँचने का तरीका आत्मपरक ही हो सकता है। इसीलिए अभिव्यक्तिवाद यथार्थ की खोज बाहर न कर मनुष्य के आन्तरिक, अवचेतन, तात्त्विक, आध्यात्मिक और भाव-समाधि के जगत् मे ही

करता है। यह जीवन के सार को, जीवन की आधार वस्तु को ग्रहण करने का प्रयत्न था। यह चिन्ता, आत्मिक जिज्ञासा, अपूर्णता और संकटावस्था, और यहाँ तक कि उन्माद को भी व्यक्त करता है। यह मनुष्य के मर्म को छूकर उसकी त्रासदी को मुखर करता है; उसके अन्तर और बाह्य, आत्मपरक और वस्तुपरक, यथार्थवादी और अयथार्थवादी तत्त्व के संघर्ष को उजागर करता है।

एक ओर इसमें स्वच्छंदतावादी भावुकता का विरोध था, दूसरी ओर यथार्थवाद की सतही दृष्टि का। अभिव्यक्तिवाद की दृष्टि मे स्वच्छंदतावाद मिथ्या का प्रतीक था और यथार्थवाद आन्तरिक यथार्थ की खोज मे असमर्थ। इन दोनों की सीमाओं से अलग अभिव्यक्तिवाद ने उस कलात्मक अभिव्यक्ति को प्रश्रय दिया जो आन्तरिक भाव का बाह्यकरण करती है। यह आन्तरिक भाव उन्हें किसी खास व्यक्ति का नहीं, भीड़ का अभीष्ट था जिसमे व्यक्ति का अपनापन नही रह जाता। इसीलिए अभिव्यक्तिवादी नाटकों की कथावस्तु और चरित्र-सृष्टि में अपना ही वैशिष्ट्य होता है। उनमे कथानक के सरलीकरण और वस्तुपरक क्रिया-व्यापार को कम करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, चरित्रों में व्यक्तित्व की रेखाएँ इतनी कम दिखाई देती हैं कि वे एक व्यक्ति की अपेक्षा पूरे वर्ग का प्रतिनिधित्व करने लगते हैं— कभी-कभी तो पात्रों के नाम तक नही मिलते। संवादों में वाक्य गायब-से लगते हैं, उनके स्थान पर वाक्यांश या शब्द संप्रेषण का सारा दायित्व वहन करते हैं। अवचेतन की अभिव्यक्ति के लिए विकृत, खंडित, अतार्किक गतियों और भाव-भंगिमाओं का सहारा लिया जाने लगा। रंगमंच के क्षेत्र मे भी अभिव्यक्तिवाद ने अतिरंजनापूर्ण आकृतियों, विकर्षक रूप-रेखाओं, विसंगत रंगों, यांत्रिक अभिनय और सांकेतिक संवादों के माध्यम से कुछ ऐसे उपकरण जुटाए जो उसके लेखन की मूल प्रवृत्ति से मेल खाते थे।

अभिव्यक्तिवाद ने रंगमंच को पर्याप्त स्वतन्त्रता दी। यह इस सत्य का दावा करता है कि रंगकर्मी वस्तुपरक जगत् से भी भिन्न अपने एक जगत् का सर्जक है। अभिव्यक्तिवाद ने रंगमंच पर सर्जन की लगाम, कल्पना की उडान, विकृत मनोदशा की तीव्र अनुभूति तथा देश और काल की क्षीण जागरूकता के हाथों थमा दी थी। इसलिए रंगमंच विकृत बिम्बों से आपूरित हो गया— इसका दृश्य सज्जा पर तीव्र प्रभाव पड़ा। अभिव्यक्तिवाद की प्रेरणा से मंच पर सज्जा कम से कम होती गयी। दो जर्मन परिचालक लियोपोल्ड जेस्सनर (१८७८-१९४८) और फेहलिंग (१८९०-१९६८) अभिव्यक्तिवादी प्रस्तुतियों से सम्बद्ध रहे। जेस्सनर ने पात्रों की परिस्थितियों और आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए रंग और प्रकाश का अद्भुत प्रयोग कर दिखाया। फेहलिंग ने इस दिशा में कई नये प्रयोग किये। कहा जाता है कि अभिव्यक्तिवाद रंग-

मंच पर एक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन के रूप में नहीं आता, यदि यह महायुद्ध से पीड़ित बौद्धिक पीढ़ी में जन्म न लेता और उसके साथ रेनहार्ट जैसे रंगकर्मियों का योग न होता। इस युग की सबसे बड़ी रंगीय उपलब्धि का कारण बिजली का प्रयोग था जिसने अभिव्यक्तिवाद को आन्तर जगत् की अभिव्यक्ति में पूर्ण सुविधा प्रदान की।

लगभग इसी काल में घनवाद (क्यूबिज्म), निर्माणवाद (कन्स्ट्रक्टिविज्म), भविष्यवाद (फ्यूचरिज्म) कला के क्षेत्र में सक्रिय हो रहे थे। घनवाद की मूल प्रेरणा सिज़ां के ये विचार थे कि प्रकृति में सब कुछ गोलको, शंकु तथा बेलनाकार आकृतियों पर निर्भर करता है। इसी तथ्य को हृदयंगम कर पिकासो ने घनवादी शैली का विकास किया जिसमें ज्यामितीय आकार-प्रकारों को विशेष महत्त्व दिया गया। घनवादी चित्रकारों की कलाकृतियाँ इस तथ्य से प्रेरित थी कि वक्र रेखा की तुलना में सीधी रेखा अधिक सशक्त होती है। इसीलिए उसमें ज्यामितीय आकृतियों के गठन और ठोस त्रिआयामी उभार पर विशेष बल दिखाई देता है।

नाटक को घनवाद ने प्रभावित किया, यह कहना तो कठिन है किन्तु रंगमंच पर उसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। महायुद्ध के दिनों या उससे कुछ पहले दृश्य सज्जा और वेशभूषा में घनवादी परम्परा का प्रसार हुआ। इस दिशा में सुप्रसिद्ध परिचालक मेयरहोल्ड (१८७४-१९४२) ने रूस की रंगशालाओं में अनेक प्रयोग किये। उसने प्रेक्षकों के सामने से फुटलाइट और आगे का पर्दा हटा दिया। परम्परागत दृश्यावली भी नहीं रहने दी। सिर्फ खाली भीत पर अनेक रूपों में मानवों और प्राकृतिक वस्तुओं की ज्यामितीय आकृतियाँ प्रस्तुत की और लकड़ी, कार्ड-बोर्ड आदि से सीढ़ियाँ, ज़ीने, पीठिकाएँ, पहिए आदि बनाकर उन पर अभिनेताओं को नटों की भाँति उछल-कूद करने के लिए छोड़ दिया। इस तरह अभिनय स्वयं शैलीबद्ध हो गया और व्यायाम जैसी गतियाँ उसमें प्रमुख हो गयीं। मेयरहोल्ड किसी युग में स्तानिस्लावस्की के साथ अभिनेता रह चुका था। उसी की तरह उसने अभिनय की एक नयी पद्धति निकाली जिसे जीवयान्त्रिक पद्धति (बायो-मेकैनिक) कहा जाता था। सत्याभास प्रस्तुत करने की अपेक्षा उसने प्रेक्षक को सजग रखने का प्रयत्न किया और मंच पर रंगीयता को महत्त्व दिया। अभिनेता के लिए उसने शरीर को यन्त्र के रूप में प्रयुक्त करने की विधियों का सफल प्रयोग किया। अभिनेता बनने से पहले वह उनके लिए व्यायाम, सरकस की कलाबाजी की शिक्षा अनिवार्य समझता था। मेयरहोल्ड की इस प्रणाली का उल्लेख प्रायः निर्माणवाद के नाम से किया जाता है। यह संज्ञा रूस में १९१२ के आसपास वास्तुकला में प्रयुक्त होती थी। इसी के फलस्वरूप अभिनेताओं की वेशभूषा और रूप-सज्जा में भी घनवादी प्रवृत्ति का

समावेश हो गया। कभी-कभी उन्हें विशेष रूप से बने मुखौटे और ऐसे नुकीले कपड़े पहनाए जाते जो कार्डबोर्ड जैसी सख्त चीज के बने होते थे। इस प्रकार घनवाद की प्रेरणा से रंगमंच पूर्णतः यान्त्रिक बन गया।

विश्वकला के क्षेत्र में घनवाद के गर्भ से कई वादों का जन्म हुआ; नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में अभिव्यक्तिवाद के अन्तर्गत घनवाद, निर्माणवाद, भविष्यवाद सभी की प्रवृत्तियों का समाहार हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि रंगमंच पूरी तरह इन रूपवादी कलात्मक आन्दोलन की गिरफ्त में आ गया।

इनकी गिरफ्त से मंच को छुड़ाकर एक विभिन्न स्वरूप देने का कार्य बरतोल्त ब्रेख्त (१८९८-१९५६) ने किया। जब अभिव्यक्तिवाद अपने चरम पर था, तब ब्रेख्त जर्मन रंगमंच को एक नयी दिशा देने के लिए कार्य-रत था। समसामयिक रंगमंचीय परम्परा के विरोध में उसने जिस रंगमंच की परिकल्पना की थी उसे उसने इपिक थियेटर (महाकाव्यात्मक रंगमंच) कहकर पुकारा। उसका विचार था कि प्राचीन रंगमंच अब अर्थहीन होकर रह गया है क्योंकि वह प्रेक्षक को निष्क्रियता का भागी बना देता है। उसने स्वयं एक ऐसे रंगमंच की नींव डाली जिसमें प्रेक्षक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गया। आदर्श रंगमंच की व्याख्या करते हुए उसने तीन बातों पर विशेष बल दिया—इतिहासीकरण (हिस्टोरिफिकेशन), भाव-निरपेक्षता (एलियनेशन) तथा महाकाव्य-तत्त्व (इपिक)। उसका विचार था कि समसामयिक जीवन से आधार सामग्री लेते हुए रंगमंच को उसे इस रूप में प्रस्तुत करना चाहिए जैसेकि वह किसी और देश की, किसी और काल की हो। इस प्रकार प्रस्तुतीकरण में उसकी भूतकालिकता पर बल होना चाहिए, वर्तमान पर नहीं। इसी प्रकार भाव-निरपेक्षता को वह प्रस्तुतीकरण का आवश्यक अंग मानता है। उसका विचार था कि अभिनेता को वे सब साधन त्यागने चाहिए जो अभिनीत पात्र के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए प्रयुक्त होते आए हैं : 'किसी भी समय उसे इतना नहीं बह जाना चाहिए कि वह पूरी तरह अभिनीत चरित्र ही बन जाय। यह कथन कि उसने लियर का अभिनय नहीं किया, वह स्वयं लियर ही था—अभिनेता के लिए यह घातक टिप्पणी है।'[1] उसका सारा बल इस बात पर था कि प्रेक्षक के लिए मंच पर भाव-निरपेक्षकारी प्रभाव पैदा किया जाय; दृश्य विधान से वास्तविकता का भ्रम न हो और न वह देश-काल का परिचायक हो तथा प्रकाश व्यवस्था प्रेक्षक के आँखों से छिपाई न जाय।

१. नटरंग, अंक ८, पृ० १३-१४

ब्रेख्त ने अपने रंगमंच को महाकाव्यात्मक कहा। उसका विचार था कि उसे महाकाव्य की भाँति होना चाहिए। विभिन्न सर्गों में निबद्ध महाकाव्य इतिवृत्त और संवाद के द्वारा सारी कथा को इस प्रकार प्रस्तुत करता है जैसे एक ही व्यक्ति उसे सुना रहा हो। महाकाव्य में दिक् और काल का परिवर्तन भी स्वेच्छापूर्वक सम्भव है। उसमें कुछ बातें सूच्य होती हैं और कुछ दृश्य। एक इतिवृत्त और दूसरे इतिवृत्त, एक काल और दूसरे काल, एक देश और दूसरे देश के बीच के व्यवधान को उसमें सरलता से कुछ शब्दों से पाटा जा सकता है। ब्रेख्त ने अपने नाटक इसी शैली में लिखे। उसने उसमें प्रस्तावना, इतिवृत्त, संवाद, संगीत, नृत्य, दृश्य और काव्य सबका परस्पर समन्वय किया।

रंगमंच के सम्बन्ध में उसकी कल्पना एक लेक्चर हॉल या सर्कस के अखाड़े की-सी थी जिसमें व्यक्तित्वपूर्ण चरित्रों, सुरचित नाटकों, कुतूहल और चरम उत्कर्ष का निर्वाह करने वाली नाट्य संधियों के लिए कोई स्थान नहीं था। इस रंगमंच की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसका लक्ष्य प्रेक्षक को भाव-विभोर करने की अपेक्षा उसे सोचने के लिए जाग्रत करना था।[1] इसमें संगीत के महत्त्व पर ब्रेख्त ने बड़े विस्तार से विचार किया है।[2] वस्तुतः ब्रेख्त का रंगमंच काव्यात्मक है और उन्नीसवीं शती के पाश्चात्य रंगमंच से बिल्कुल भिन्न ठहरता है। वह अपने युग के रंगमंच का प्रबल विरोधी था। उसके अनुसार जो रंगीय प्रयोग हो रहे थे, वे उस बिन्दु पर पहुँच चुके थे जिससे आगे कोई सार्थक कलात्मक अनुभव की आशा नहीं की जा सकती। उस सारे रंग-कार्य से क्या लाभ जो ढेर सारे दाँव-पेंचों से परिपूर्ण होने पर भी कोई सामाजिक उपलब्धि न दे सके। ब्रेख्त एक प्रतिबद्ध रंगकर्मी था। वह रंगमंच को केवल प्रयोगों के हाथ का खिलौना नहीं बनने देना चाहता था।[3]

आधुनिक कला के इतिहास में दादावाद का अभियान सबसे विचित्र सिद्ध हुआ। इसका श्रीगणेश प्रथम विश्व युद्ध की वीभत्स और विनाशकारी प्रभावों की प्रतिक्रिया में फ्रांस में हुआ था। कवि ट्रिस्टन त्ज़ारा, मूर्तिकार हैन्स आर्प, चित्रकार फ्रैंसिस पिकेबिया और मार्सेल डशैम्प ने मिल-बैठकर इसका सूत्रपात किया था। ८ फरवरी १९१६ की एक शाम को इस नये आन्दोलन के लिए 'दादा' शब्द का चयन हुआ जिसका अर्थ है—शौकिया घोड़ा। स्पष्टतः दादा-

१. जॉन विलेट : ब्रेख्त ऑन थियेटर, पृ० २३
२. वही, पृ० ८४-८५
३ वही, पृ० १३३

वाद कुछ लोगों का एक शौक या खिलवाड़ था जिसका लक्ष्य सामाजिक, राजनैतिक, पारम्परिक, नैतिक सभी प्रकार की मान्यताओं को उखाड़ फेंकना था। यह इसी से स्पष्ट है कि डशैम्प (१८८७—) ने पेरिस में जब मोनालिसा की रंगीन अनुकृति तैयार की तो उसमें उसने दाढ़ी-मूँछें लगा दीं और नीचे से कुछ अश्लील शब्द भी लिख दिये। कुल मिलाकर दादावाद का मूल आधार विकृति, विरूपण, अतर्क, व्यंग्य और विसंगति था। उसका उत्तम पक्ष कोई था तो केवल प्रयोग में निहित था।

दादावाद का साहित्यिक जनक ऐल्फ्रेड जारी था जिसने १८९७ में 'उबू-रोइ' नाटक की रचना की थी। यह नाटक मध्यम वर्ग के व्यक्ति की साहित्यिक रुचि पर तीव्र प्रहार करता है। धीरे-धीरे दादावाद ने चित्रकला, नाटक और रंगमंच के साथ-साथ बैले, काव्य, उपन्यास, वास्तु सभी क्षेत्रों पर धावा बोला, पर वह दीर्घजीवी नहीं हो सका। उसका समावेश शीघ्र ही एक दूसरे उगते हुए विचार-आन्दोलन अतियथार्थवाद (सुर-रियलिज्म) में हो गया।

अतियथार्थवाद का प्रवर्तन १९२२ में पेरिस के चित्रकारों द्वारा हुआ था और ठीक इसके दो वर्ष बाद आन्द्रे ब्रेटन ने इसका एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया था। कहा जाता है कि अतियथार्थवाद ने अपने सूत्र अपोलिनेयर के सुप्रसिद्ध नाटक ल मैमील डी टेरेसिया (टेरेसिया के स्तन) से ग्रहण किए थे जिसे ड्राम सुर-रियलिस्टे कहकर प्रस्तुत किया गया था और जिसकी प्रस्तावना में नाटककार ने एक नयी दृष्टि का परिचय देते हुए लिखा था कि नाटककार को देश और काल, यथार्थ और तथ्य की सीमा को तोड़ना चाहिए क्योंकि नाटककार की दुनिया स्वयं उसका नाटक है जिसके अन्दर वह सर्जक और ब्रह्म है जो स्वेच्छा से पात्रों, प्रसंगों, भंगिमाओं और चेष्टाओं को रूपायित करता है। इसी विचारधारा को अग्रसर करते हुए अतियथार्थवादियों ने अर्धचैतन्य मस्तिष्क के विचार-प्रवाह को मुख्यता देते हुए 'परम यथार्थ' को अभिव्यक्त करने का लक्ष्य बनाया। तर्क और बुद्धि के प्रभाव से रचना को मुक्त रखकर उन्होंने स्वचालित लेखन, सुषुप्त मस्तिष्क से उद्भूत विचारों को प्रश्रय दिया और इस प्रकार तनावों से मुक्त होने का साधन ढूँढ़ निकाला। फिर भी अतियथार्थवादियों का लक्ष्य मात्र अचेतन का चित्रण करना या उसके द्वारा प्राप्त बिम्बों से एक विकृत काल्पनिक संसार की रचना करना नहीं था। वे अचेतन को यथेष्ट महत्त्व देते थे, पर उनका लक्ष्य चेतन-अचेतन, भौतिक-बौद्धिक, बाह्य-आन्तरिक सभी अवरोधों को तोड़कर एक अतियथार्थ का निर्माण करना था। इस प्रकार अचेतन एक माध्यम मात्र था जिसे सचेतन जगत् के बिम्बों से मिलाकर वे एक नये यथार्थ का संकेत देते थे। वह यथार्थ विसंगत और वीभत्स अवश्य लगता है; किन्तु उसके पीछे भी उनकी एकबद्ध दृष्टि थी—

वस्तुतः वे मानव की असंगत चेतना को ही सर्जन का स्रोत मानते थे।

असंगति, वीभत्स कल्पना, अचेतन बिम्बों का सहारा लेकर अतियथार्थवाद की प्रेरणा से नाटककारों ने ऐसे नाटक लिखे जिनमे विस्फोटक प्रवृत्तियों, रोमांचकारी वीभत्स दृश्यों, अन्तर्विरोधमूलक मुद्राओं, त्रासद और फास की मिली-जुली नाट्यस्थितियों, मुखौटों और अर्थहीन संवादों की भरमार मिलती है। इस क्षेत्र मे अतियथार्थवाद की देन बहुत महत्त्वपूर्ण तो सिद्ध नही हुई, किन्तु ज्यां आँक्तू, कॉमलिक, रोजर वित्राक आदि ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की। इनके अतिरिक्त ऐसे नाटककारो की सख्या भी कम नही है जो सीधे अतियथार्थवाद के ध्वज के नीचे नहीं आते, पर जिनकी रचना-प्रक्रिया पर उसका प्रभाव यथेष्ट है। इनमे आरमंड सलाक्रे, जूलियन तोरगां, रेमड रस्सेल, लोर्का आदि उल्लेखनीय हैं। जीरादू, जौवे आदि भी इससे प्रभावित रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नही।

इसी समय एक और नाम उभरकर आता है। वह नाम है—अन्तोनिन अर्तो (१८९६-१९४८) का। अर्तो ने रगमंच को एक नयी देन दी जो थियेटर ऑव क्रूयेल्टी के नाम से पुकारी जाती है। वह अपने प्रारम्भिक कार्यरत जीवन में दादा और अतियथार्थवादियों के सम्पर्क में रहता आया था। पर जहाँ उनकी दृष्टि विकृति, विसंगति, असत्ता, मसखरेपन तक ही सीमित रही, अर्तो ने अपने आन्तरिक विद्रोह को एक क्रान्तिकारी विचार-दर्शन का रूप दिया। उसकी दृष्टि मे रंगमंच एक ऐसा स्थान-मात्र नही है जहाँ प्रेक्षकों का मनोरंजन होता है, यह सभ्यता और संस्कृति का नाड़ी-संस्थान है। इसीलिए रंगमंच को कला का नही संस्कृति का केन्द्र बनना चाहिए। संस्कृति के सम्बन्ध मे उसकी धारणा मानव के आदिम अनुष्ठानों पर आधारित है और उसी को वह आज के सभ्य जगत् पर आरोपित करना चाहता है। रंगमंच के प्रभाव की तुलना वह प्लेग फैलने जैसी स्थिति से करता है। किसी जमाने में जब प्लेग फैलता था तो उस संहार लीला मे समाज टूट जाता था, अधिकार और सत्ता लुप्त हो जाती थी और केवल अराजकता बच रहती थी। तब आदमी अपनी दबी, टूटी-फूटी भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। उन्माद और प्रलाप की उसी स्थिति को अर्तो रगमंच पर लाना चाहता था। उसके अनुसार प्लेग की भाँति ही रंगमंच में सामाजिक संहार की शक्ति विद्यमान है। रंगमंच भी प्लेग की तरह है। इसलिए नही कि वह संक्रामक है बल्कि इसलिए कि उसकी भाँति ही यह एक प्रकटन है, रहस्योद्घाटन है, अन्तर्निहित क्रूरता का बाह्यकरण है। 'क्रूरता' से उसका तात्पर्य रक्तपात से नहीं, वरन् उस आवृत परपीड़क मनोवृत्ति से था

जो युगों से मानव को युद्धों, मारधाड़ वाली फिल्मों, हत्याओं की ओर अग्रसर करती रही है। उसका अभिप्राय यही रहा कि रंगमंच को मानव की दबी हुई इच्छाओं के निकास का माध्यम बनना चाहिए। इस मामले में वह फ्रायड, रिम्बॉ और लॉरेन्स का समर्थक था। किन्तु नीत्से से उसकी बात ज्यादा मिलती है जिसका विचार था कि मनुष्य धरती पर सबसे अधिक क्रूर जीव है। वह दूसरो के संकटों, बैलो की लड़ाइयो और फांसी चढ़ाने पर आनन्द लेता रहा है और जब उसने नरक का आविष्कार किया तो वही उसका स्वर्ग था। अर्तों ने मानव की इसी क्रूरता की ओर संकेत किया। नाटक और रंगमंच खोखले और अनाचरित आदर्शों को पाले, इससे अच्छा वह मनुष्य के झूठे मुखौटों को उतारने का काम करे, आडम्बरो और मिथ्या व्यवहार को खोलकर रखे—यही उसकी कामना थी।

अर्तों ने अपनी पुस्तक **थियेटर एँड इट्स डबल** मे अपने इन विचारो को विस्तार से व्यक्त किया है। जैसा कि उसकी पुस्तक के नाम से स्पष्ट है, रंगमंच की अवधारणा उसने प्रतिरूपी द्वयक के रूप में की है। उसकी दृष्टि में रगमंच जागतिक यथार्थ के साथ अपना भी एक यथार्थ खड़ा करता है। यह एक प्रकार का दर्पण है जिसे अवचेतन हाथ मे लिये हुए है। इसके अतिरिक्त अर्तों का एक विचार यह भी था कि शब्द संस्कृति के कीटाणु हैं और जागतिक तथा आन्तरिक यथार्थ की अभिव्यक्ति मे वे रंगमंच की शक्ति को क्षीण करते है। वह रंगमच की भाषा को मंत्र की शक्ति से युक्त देखना चाहता था। वस्तुतः अर्तों का रंगमंचीय आदर्श भाव की सर्जना था। उसकी दृष्टि मे रंगमंच की अपनी भाषा होती है। परिचालक का कार्य ऐन्द्रिय काव्य की रचना करना है। इसमें वह दृश्य-विधान को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देता था।

रोजर विम्राक के साथ १९२७ में अर्तों ने एक रंगशाला की स्थापना की। फिर १९३५ में अपनी ही एक रंगशाला 'थियेटर डी ला क्रूते' चलाई। दुर्भाग्य से वह अधिक नाटक प्रस्तुत नहीं कर पाया और उसके विचार उसके मस्तिष्क से व्यवहार मे नही आ सके। अपना प्रभाव छोड़ने से पहले ही उसका निधन हो गया। जो वह रंगमंच पर स्वयं अर्जित न कर सका, उसके परवर्ती नाटककारों और रंगकर्मियो ने कर दिखाया। कामू, आयोनेस्को, बेकेट, अदामोव आदि पर उसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। विसंगतिवादी रंगमंच यद्यपि कई और तत्वों की भी देन है, किन्तु अर्तो को भी एक स्रोत के रूप में अस्वीकार नही किया जा सकता।[1] अर्तों के रंग-दर्शन के समर्थकों में एक नाम और जोड़ा जा सकता है और वह है जेने का।

1. रॉबर्ट ब्रस्टीन : द थियेटर ऑव रिवोल्ट, पृ० ३७६

जेने (१९०९—) अर्तो का सच्चा उत्तराधिकारी था। अर्तो की भाँति ही वह प्राच्य रंगमंच का समर्थक था। जेने ने एक ऐसे आनुष्ठानिक रंगमंच की कल्पना की थी जो धर्म पर नही वरन् काव्यात्मक कल्पना पर आधारित हो। उसका विचार था कि कला का लक्ष्य सौन्दर्य का प्रभाव पैदा करना नही, एक प्रकार की धार्मिक आस्था पैदा करना है। उसका समस्त नाट्य-साहित्य विरेचन का उदाहरण है जिसके पीछे अर्तो की विचार-धारा सक्रिय दिखाई देती है।

प्रथम महायुद्ध के समय नाटक और रंगमंच एक भीषण अनुभव के बीच से गुजरा था। द्वितीय महायुद्ध ने एक बार फिर उस अनुभव को और गहरा कर दिया। मानव को तीखा अहसास हुआ—विज्ञान के नाम पर संघातक अस्त्र-शस्त्रों और शैतान जैसी विशालकाय मशीनों के द्वारा एक ऐसा अभिशाप मनुष्य के हाथ लगा जिसने उसकी सुरक्षा को ही नही, मानवीयता को ही खतरे मे डाल दिया। यान्त्रिक सभ्यता ने मनुष्य को अलगाव और विसंगति के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया। आध्यात्मिक दृष्टि की शून्यता और भौतिकवाद की देन ने हिंसा, होड़, शोषण और अनैतिकता को बढ़ावा दिया। विश्वयुद्ध ने मनुष्य को जिस तरह झकझोरकर रख दिया, उससे रही-सही मान्यताएँ भी हिल गयीं। मानवीय संकट मे आस्था और विश्वास भी उड़ गये। जो बच रहा वह मात्र अव्यवस्था या निस्सारता का अहसास था जिसकी भँवर मे आदमी बुरी तरह घिर चुका था। इसीलिए उसके अस्तित्व के सामने एक प्रश्नचिह्न लग गया था।

प्रश्नो की इसी किंकर्तव्यविमूढ़ता के बीच से तभी एक चिन्तन उभरा जिससे उस निविड़ अंधकार में भी राह की तलाश शुरू हुई। इस अनजानी राह का सूत्रपात कीर्केगार्द (१८१३-१८५५) कर चुका था। उसी की भाँति नीत्से (१८४४-१९००) और दोस्तोवस्की (१८२१-१८८१) उन्नीसवी सदी मे दिशा का संकेत दे गये थे। बाद में कार्ल यास्पर्स, हेडगर, कामू, मार्सेल, काफ्का, सार्त्र, बर्दिएफ आदि ने हमारी अपनी सदी मे एक नये जीवन-दर्शन का महल खडा किया जो अस्तित्ववाद के नाम से चर्चित हुआ।

इसी अस्तित्ववाद ने नाटक के क्षेत्र मे विसंगतिवाद (ऐबसर्डिज्म) को प्रश्रय दिया। मार्टिन एस्सलिन इस परम्परा को बहुत पीछे तक ले जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नही है कि उन्नीसवी शती मे पिरादेलो, स्ट्रिंडबर्ग, ऐल्फ्रेड जारी, अपोलोनियर, ट्रिस्टन जारा, गॉल, ब्रेख्त (कुछ रचनाओं में), लुई आरागों, वित्राक आदि नाटककारो तथा अभिव्यंजनावादी, दादावादी तथा अतियथार्थवादी परम्परा ने भी विसंगतिवादी प्रवृत्तियों को जन्म दिया। किन्तु विसंगति

का तीव्र बोध अस्तित्ववाद की ही देन है। उसी के फलस्वरूप १६५० के आस-पास विसंगत नाट्य धारा प्रबल वेग से सामने आई।

१६४५ से १६६५ के कालखंड में अनेक विसगत नाटक लिखे गये। इस परम्परा के नाटककारों में कामू (१६१३-१६५६), सार्त्र (१६०५—), ज्यां जेने (१६०६—), बेकेट (१६०६—), आयनेस्को (१६१२—), अदामोव (१६०८—), आल्बी (१६२२—), पिंटर (१६३०—) आदि उल्लेखनीय हैं। इनके साथ ही अनेक नाटककारों की एक और पांत भी है जो इससे प्रभावित होकर रचना करते रहे हैं। ऐसे नाटककारों में मैक्स फिश, गूंतर ग्रास, रॉबर्ट पिंजेट, आर्थर कोपिट आदि पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके हैं। वस्तुतः विसगत नाटककारों में सभी को एक खेमे में करार देना सम्भव नहीं है। वे विभिन्न प्रवृत्तियों के द्योतक हैं। मूलभूत एकता इतनी ही है कि ये सभी जीवन के परम्परागत मूल्यों का बहिष्कार करते हैं और अस्तित्व को विसंगति का पर्याय मानते हैं। वे सभी जीवन की विरूपता की स्थिति को स्वीकार कर चलते हैं जिसमें भद्दापन, बेतुकापन और भोंडापन एक अपरिहार्य सत्य बनकर आता है। द मिथ ऑव सिसिफस में एल्बर्ट कामू ने इसकी व्याख्या में कहा था : 'मनुष्य और उसकी जिन्दगी, कर्ता और उसके परिवेश का अलगाव विसगति की भावना को जन्म देता है।' विसंगत अथवा 'ऐब्सर्ड' का सामान्य अर्थ होता है—विषम स्वर होना (संगीत के सन्दर्भ में), सामंजस्यहीन, अतार्किक, असम्बद्ध, ऊलजलूल, हास्यास्पद आदि। किन्तु विसंगतिवादी इसे इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं करते। काफ्का पर लिखे अपने एक निबन्ध में आयनेस्को ने लिखा है : 'विसंगत अर्थात् ऐब्सर्ड वह है जो प्रयोजनहीन है…जो धर्म, अध्यात्म और अनुभवातीत सूत्रों से कटा है, ऐसे आदमी के सब क्रिया-व्यापार व्यर्थ, ऊलजलूल अर्थहीन हैं।'[1]

वैसे इस परम्परा के नाटकों को देखें तो सब में अस्तित्व की विरूपता की अलौकिक पीड़ा का अहसास मिलता है। इसका एक पहलू यह भी है कि किसी परम यथार्थ के बिना जी गयी जिन्दगी को इसमें बुरी तरह फटकार बताई गयी है। आदमी अपने व्यवहार से, वाणी और विवशता से अपने आसपास की जिन्दगी को इस तरह घिनौना बना देता है कि वह स्वयं अपने से पूछने लगता है कि वह इस जिन्दगी को जी क्यों रहा है, जिसे देखकर उबकाई आती है। विसंगतिवादी नाटक इस जिन्दगी की मजाक उड़ाते हैं; पर इससे भी गहराई में वे विसगति की एक और गहरी परत तक पहुँचते हैं और वह है आदमी की वह दशा जो उसने किसी परम सत्य के अभाव में अपनी बना डाली है। जिस प्रकार प्राचीन काल की ग्रीक त्रासदियाँ नियति के हाथों मानव की विवशता

१. मार्टिन एस्लिन : द थियेटर ऑव द ऐब्सर्ड, पृ० २३

का अहसास दिलाती थीं, उसी प्रकार विसंगतिवादी नाटक इस विश्व में मानव की रहस्यमय और दुखद स्थिति को प्रस्तुत करते हैं। वे मानव को उसकी आधारभूत स्थिति में खड़ा करके दिखाते हैं। जहाँ पीड़ा, संत्रास, आतंक, अलगाव, एकाकीपन और मृत्यु का बोध गहराता जाता है। वस्तुतः विसंगतिवादी नाटक स्थितियों का नाटक है, घटनाओं या चरित्रों का नहीं। उसका लक्ष्य कथा कहना नहीं, काव्यात्मक बिम्ब प्रस्तुत करना है। विसंगतिवादी नाटककार मानवीय स्थिति की सही विद्रूपता का दर्शन कराने के लिए प्रायः बिम्बों, दुस्स्वप्नों और अतिकल्पनाओं को माध्यम बनाते हैं और अतिरंजनापूर्ण कथावस्तु, विलक्षण चरित्रों और सनसनीखेज दृश्य-योजना का अटपटा प्रयोग कर पाठक/प्रेक्षक को झटका देते हैं। वे प्रायः असामान्य चरित्रों की सृष्टि करते हैं—चोर, उचक्के, आवारा, अपराधी, दंडित, बहिष्कृत, विक्षिप्त, कुंठित, ऊबे-थके, निरर्थक जीवन जीने वाले लोग, जो एकदम हास्यास्पद और करुण लगते हैं—मानवीय संवेदना से भरपूर और विक्षोभ की भावना से परिपूर्ण। उनके जीवन जीने की पद्धति से ही उनकी हास्यास्पद नाटकीय स्थिति उभरती प्रतीत होती है जिसमें उनकी भूमिका भावुक और निराश व्यक्ति की मात्र होती है। कुल मिलाकर इन नाटकों में व्यंग्य और कारुण्य के रसात्मक तत्वों का समावेश मिलता है जो भय और त्रास का अनुभव देते हैं।

विसंगतिवादी अपने नाटकीय कथ्य के अनुरूप ही रंगमंच पर भी विसंगति का आधार लेकर चलते हैं। वे प्रायः मूक अभिनय, अतिरंजित आंगिक चेष्टाओं, मुखौटों, विरूप दृश्यों, अभिप्रायों, बिम्बों तथा ऊलजलूल संवादों के सजग प्रयोग द्वारा वातावरण की अद्भुत सृष्टि करते हैं। विसंगतिवादी मंच पर नाटककार की दृष्टि और पात्र के अवचेतन को व्यक्त करने के लिए प्रायः काव्यात्मक बिम्बों की योजना की जाती है। वे स्थूल यथार्थ की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक यथार्थ को उद्घाटित करते हैं। इसीलिए विसंगत कथ्य के साथ जुड़ जाते हैं। जहाँ तक अभिनय शैली का प्रश्न है विसंगतिवादी रंगमंच अभिनेताओं को सक्रिय रखने का प्रयास करता है जिससे प्रेक्षकों की आँखों के आगे कुछ न कुछ घटित होता रहे। यह बात दूसरी है कि उनकी क्रियाएँ अकारण और अनायास होती हैं; फिर भी उन्हें बेतुकी, भोंडी और विदूषकीय ही कहा जा सकता है। बेकेट के गोदो की इन्तजार में इसके कई उदाहरण मिलते हैं। अभिव्यंजनावादियों, दादावादियों और अतियथार्थवादियों ने जिस प्रकार अतिरंजित आंगिक चेष्टाओं, मूक भंगिमाओं और प्रहसन के माध्यम से मन की विभिन्न स्थितियों का चित्रण किया था, उसी प्रकार विसंगतिदर्शी नाटकों में भी हुआ है। कुछ निश्चित भावों और धारणाओं को उद्घाटित करने अथवा उन पर बल देने के लिए इन नाटककारों ने मुखौटों की सहायता ली है। मुखौटों के प्रयोग से न सिर्फ इस

भावना की उग्र अनुभूति होती है कि रंगमंच एक काल्पनिक स्थल है, बल्कि उससे अभिनय और वास्तविक जीवन के अंतर की भी अनुभूति होती है। जेने के नाटक दि बालकनी तथा दि ब्लैक्स में अभिनेताओं के दोहरे व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने मे मुखौटे बहुत सहायक होते है।"[1] इसी प्रकार विसंगतिवादी मंच पर अभिनेता प्रहसनात्मक और असद तत्त्वों का सामंजस्य उपस्थित करते मिलते है। अभिनेता मंच पर जो बेहूदी हरकतें करते हैं, वे सासारिक तर्क के आधार पर चाहे यथार्थ न लगें, पर बेहूदापन जब स्वयं रंगमंच का यथार्थ बन जाता है तो सब कुछ स्वाभाविक लगता है।

विसंगतिवादी नाटक की एक और महत्त्वपूर्ण देन उसकी भाषा और संवाद-योजना है। कई विसंगतिवादी नाटककारों ने यह विचार व्यक्त किया है कि भाषा की शक्ति चुक गयी है; फिर भी उन्होंने भाषा को साधारण स्थिति से उठाकर असाधारण स्थिति तक पहुँचाया है। उन्होंने रंगमंच के बहु-आयामी माध्यम के बीच रोजमर्रा की घिसी-पिटी भाषा को भी उस स्तर तक उठाया है जहाँ वह काव्य से भी परे की वस्तु बन जाती है। फिर भी विसंगतिवादी रंगमंच शब्द का रंगमंच कभी नहीं रहा। भाषा को उन्होंने रंगमंच की बहु-आयामी बिम्बयोजना का ही अंग माना है। संवादों के बाहर भी अनकहे अर्थ को उजागर करने मे विसंगतिवादी रंगमंच ने महत्त्वपूर्ण काम किया है।

इस प्रकार इब्सेन से लेकर विसंगतिवादी नाटककारों तक आधुनिक रंगमंच ने एक पूरी यात्रा तय की है। इस बीच रंगमंच ने कई पड़ाव तय किये हैं। अनेक प्रयोगों और प्रयोगों के बल पर रंगमंच बहुत आगे बढ़ा है। सारी गतिविधि में एक बात विशेष रूप से सामने आती है; वह है यथार्थवाद की प्रतिक्रिया। रॉबर्ट ब्रस्टीन ने आधुनिक रंगमंच की सारी गतिविधियों को एक ही शीर्षक में समेटा है—थियेटर ऑव रिवोल्ट अर्थात् विद्रोह का रंगमंच। इस प्रकार विद्रोह रंगमंच की पूरी दो शताब्दियों तक मूल प्रवृत्ति रही है। यह विद्रोह मुख्यतः आत्मपरक है जिसमे नाटककार और रंगकर्मी जीवन और जगत् को अपनी ही दृष्टि से देखने का अभ्यासी हो गया है।

इस सारी रंगयात्रा मे यथार्थवाद का सबसे अधिक विरोध हुआ है; फिर भी यथार्थ का आग्रह सब युगों में प्रबल रहा; केवल उसके प्रति दृष्टि बदली है। यथार्थवाद ने यथार्थ को सीमित अर्थ में लिया। ज़ोला जैसे प्रकृतवादी यह मानते थे कि स्थूल जगत् ही एकमात्र यथार्थ है। ब्रेख्त ने सामाजिक प्रति-

१. रामसेवकसिंह : एब्सर्ड नाट्य परपरा, पृ० १०५

बद्धता स्वीकार की और चेखव ने यथार्थ की अवधारणा में व्यक्ति का मूल्य भी निर्धारित किया। इसी से चरित्र-निरूपण का विकास हुआ।

किन्तु शीघ्र ही एक परिवर्तन आया। देकार्ट, लॉक, कांट, शॉपेनहावर आदि दार्शनिकों ने एक नया चिन्तन प्रतिपादित किया कि ज्ञान इन्द्रिय अनुभव पर निर्भर करता है—बाहर का जो जगत् हमें दिखाई देता है वह हमारे मन द्वारा सर्जित होता है। नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में इस विचार ने आत्मपरकता को प्रतिष्ठित किया और इस तरह एक-दूसरे ही यथार्थ का आविर्भाव हुआ जिसमें यह महसूस किया गया कि जो है मैं वह नहीं देखता, वरन् जो मैं देखता हूँ वही है। इस प्रतिक्रिया से वे सब वाद पैदा हुए जिनकी पीछे चर्चा की गयी है। प्रतीकवादियों ने या तो जगत् को अस्वीकार ही किया या फिर उसे एक स्वप्न, एक झीने पर्दे के रूप में स्वीकार किया जिससे उच्च आध्यात्मिक/नैतिक सत्य को देखा जा सके। उनके हाथों पड़कर यथार्थ एकदम रहस्यमय हो गया। अभिव्यक्तिवादियों ने भी उन्हीं का अनुसरण करते हुए आंतरिक यथार्थ के बाह्य प्रक्षेपण पर बल दिया और उसकी स्थिति को मस्तिष्क में माना। यही बात थोड़े बहुत अंतर के साथ अतियथार्थवादियों और विसंगतिवादियों को भी ग्राह्य हुई। फलत: आधुनिक नाटक और रंगमंच की विकास यात्रा में यथार्थ की नयी-नयी व्याख्याएँ हुईं।

विसंगतिवाद अब नाटक और रंगमंच का मुख्य स्वर नहीं रहा है। कल रंगमंच किसके हाथ में होगा, या आज किसके हाथ में है, यह कहना कठिन है। वैसे यह कहा जाता है कि नाटक और रंगमंच आज नव-यथार्थवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। कल के बारे में क्या कहा जा सकता है? स्वयं आज रंगमंच सिनेमा और टेलीविजन के सदमे में आ गया है। कुछ लोगों का विचार है कि आने वाले युग में रंगमंच सिनेमा, रेडियो और टेलीविजन के तकनीकी सहयोग से ही विकसित हो सकता है।[1] फिर भी भावी रंगमंच के लिए आशा का एक संदेश है : 'ऐसे प्रदर्शनों की प्रतिष्ठा सदैव रहेगी, और उनके लिए लोग सदैव एकत्र होते रहेंगे जिनमें प्रेक्षकों के सामने अभिनेता और अभिनेता के सामने प्रेक्षक होते हैं।[2] चाहे अब कोई भी वाद आए दोनों की आमने-सामने वाली स्थिति सदा निर्णायक रहेगी।

१. एरिक बेंटले द्वारा संपादित : द थियरी ऑव मॉडर्न स्टेज, पृ० ४७२
२. शेल्डान चेनी : रंगमंच (अनुवाद), पृ० ६८४

महान् एशियाई रंगमंच-परम्परा

८

पाश्चात्य रंगमंच की तुलना में पौर्वात्य रंगमंच की कुछ अपनी ही विशेषताएँ रही हैं। इसीलिए आज इस बात की जरूरत है कि विश्व में उसे समझने का सही दिशा में प्रयास हो। केवल धर्म-कर्म, नृत्य-गीत और पुराण-कथाओं से जुड़ा हुआ बताकर उससे पिण्ड छुड़ा लेने से काम नही चलेगा। इसमे कोई सन्देह नही कि पारम्परिक एशियाई रंगमंच अपने मूल मे धर्म, मिथक, दर्शन, रहस्यमय साधनाओं और सांस्कृतिक साँचों से सम्बद्ध है और उसे उसके नैसर्गिक सन्दर्भ मे ही समझा जा सकता है। यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि पश्चिम मे रंग-मंच अलग-अलग कलाओं और उप-कलाओं का मिश्रण-मात्र माना जाता रहा है। एशिया में रंगमंच पर काव्य, नाटक, दृश्य, श्रव्य, नृत्य, संगीत सभी का अद्भुत समन्वय साधा गया है जो अपने में एक दुर्लभ और जटिल कलात्मक उपलब्धि कही जा सकती है।

इधर पश्चिम में एशियाई रंग-परम्परा का आकर्षण बढा है; किन्तु दुर्भाग्य से वह अपने देशों की सीमाओं को नहीं लाँघ पाई है। सबसे बडी विचित्र बात यह है कि एशियाई लोग पाश्चात्य रंगमंच की बढ़-चढ़कर बातें तो करते हैं, पर भारतीय कथकलि, जापानी नोह या काबूकी, कम्बोडिया के बैले तथा अफ्रीकी और सुदूर पूर्व के देशों के नाट्य-रूपों को भूल जाते हैं। यह कम महत्त्व-पूर्ण बात नही है कि पश्चिमी प्रभावों के बावजूद एशियाई नाट्य और रंगमंच अपनी अक्षुण्ण सत्ता बनाए हुए है। वस्तुतः रंग-परम्परा के विकास मे एशियाई देशों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। रिचर्ड साउदर्न ने अपनी पुस्तक सेवन एजेज ऑव थियेटर में कई ऐसे एशियाई नाट्य-रूपों की चर्चा की है जिन्होंने रंगमच की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इनमे भारत के कथकलि, जापान के नोह और काबूकी, चीन चिङ्ह सी, इन्डोनेसिया के वायांग कुलित और वायांग बेबर, मलाया के वायांग सियाम, थाइलेंड के खोन और लकोन

नाइ आदि नृत्य/नाट्य रूपों का उल्लेख किया जा सकता है। एक ओर ये समकालीन सभ्यता से विलग अनुष्ठानों और क्रिया-कलापों से सम्बद्ध होने के कारण पश्चिम की आँखों को विचित्र लगते हैं; दूसरी ओर इनका रंगीय परिदृश्य, साहित्यिक तत्व और कलात्मक अनुभव हृदय को प्रभावित किए बिना नहीं रहता।

शैली और शिल्प में अन्तर एक स्वाभाविक बात है; किन्तु इसके बावजूद भी सारा एशियाई रंग एकसूत्र में बँधा है। भारत से लेकर सुदूर पूर्व बाली, जावा, कम्बोडिया, थाइलैंड का पारम्परिक रंगमंच एक-सी विशेषताओं को व्यंजित करता है। सब अपने पुराख्यानों, चरित्रों, नृत्यों, मुखौटों और वेश-विन्यास की दृष्टि से अद्भुत कहे जा सकते हैं। बाली में रंग-परम्परा लोक-जीवन में इस तरह समाई हुई है कि कोई भी स्थान अभिनय-स्थल का काम देने लगता है। बाली का पारम्परिक रंगमंच जनता का रंगमंच होने के नाते धरती से जुड़ा है और उसमें कहीं भी व्यावसायिकता की गन्ध नहीं है। नृत्य, संगीत, आशु सम्वाद-रचना तथा हिन्दू-पुराणों की कथाएँ उसकी संरचना में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

कम्बोडिया में छाया नाटक विशेष लोकप्रिय हैं। सम्भवतः इनका उद्गम भारत में हुआ होगा। भारतीय संस्कृति के विस्तार के साथ ही सुदूर-पूर्व में रामायण और महाभारत के आख्यान प्रचारित हुए और अपनी धरती पर जड़ें जमाकर वे कई तरह में फले-फूले। कम्बोडिया का नंग स्बेक (जिसे थाइलैंड में नंग याइ भी कहते है) छाया नाटक का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करता है। इन छाया नाटकों की परम्परा में जावा, बाली, इण्डोनेसिया, कम्बोडिया प्रायः सभी देशों में राम-कथा विशेष रूप से लोकप्रिय है। यहाँ चिरकाल से चर्म-पुतलियों या कठपुतलियों के माध्यम से राम-कथा से सम्बद्ध नाट्य का बड़ा ही प्रभावशाली प्रदर्शन होता है। इण्डोनेसिया का वायांग कुलित और वायांग पूर्वा जैसे छाया नाटक अपनी सांस्कृतिक थाती के लिए विश्व-भर में ख्यात हैं। ये मुख्यतः भारत की देन हैं; किन्तु आज उसने जो रूप अर्जित कर लिया है उससे स्पष्ट है कि ये नाट्य रूप कई कलात्मक और दार्शनिक प्रक्रिया के बीच से गुजरते रहे हैं। इनमें चर्मपुतलियाँ अभिनीत पात्र की 'जीवित छाया' की प्रतीक होती हैं। इनका संचालन दलांग करता है। कदली वृक्ष के सामने बैठा हुआ वह एक पौराणिक जगत् की अद्भुत सृष्टि करता है। वह पुरोहित और कलाकार दोनों होता है जो संगीत और नृत्य दोनों में पारंगत होता है। वह पात्रों की ओर से संवाद भी बोलता है और आवश्यकता पड़ने पर धार्मिक संदेश भी देता है। पुतलियाँ सुन्दर और कलात्मक होती हैं। इनमें संस्कृत नाटकों का विदूषक जैसा पात्र भी होता है। नृत्य और नाट्य का मूल विषय रामायण और

महाभारत के प्रसंग होते हैं। पुतलियों ने नाट्य रूपों को इस कदर प्रभावित किया है कि वायांग वांग आदि में अभिनेता की वेशभूषा ही नहीं वरन् भाव-भंगिमा, मुद्रा और गति भी पूरी तरह पुतलियों का अनुसरण करती हैं।

थाइलैंड भी अपने प्राचीन नाट्य रूपों के लिए सुदूर-पूर्व के अन्य देशों की भाँति प्रसिद्ध है। थाइ रंगमंच का सबसे पुराना रूप लकोन जात्री माना जाता है। इनका उद्भव भारतीय नृत्य और बौद्ध कथा-प्रसंगों में निहित है। प्रारंभ में इसमें सिर्फ तीन अभिनेता और कुछ गायक होते थे। एक अभिनेता नायक का, दूसरा खलनायक का और तीसरा स्त्री का पार्ट करता था। खल पात्र प्रायः मुखौटा धारण करता था। चौदहवीं शती के लगभग इस नाट्य-रूप में एक नया परिवर्तन आया और उससे एक नया नाट्य-रूप विकसित हुआ जो लकोन नोक के नाम से ख्यात हुआ। इसमें कथानक और विषय-वस्तु में वैविध्य आया, अभिनेताओं की संख्या में वृद्धि हुई और ऑरकेस्ट्रा भी समृद्ध हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के समय इसकी परम्परा नष्ट हो गयी और अब तो वहाँ के राष्ट्रीय थियेटर में इसका समाहार हो गया है।

थाइलैंड में लकोन नोक की भाँति ही लकोन नाइ, नंग याइ तथा खोन जैसे कई नाट्य-रूप प्रचलित हैं। थाइलैंड के शासकों ने इनको प्रोत्साहन और संरक्षण ही नहीं दिया, बल्कि नाट्य रचना में भी सहयोग दिया; किन्तु अब इनकी तुलना में लिके नामक नाट्य रूप को अधिक लोकप्रियता मिलती जा रही है। इसके साथ ही कई छाया नाटक भी अपनी लोकप्रियता बनाये हुए हैं। बौद्ध, हिन्दू, मुस्लिम, ख्मेर आदि धर्मों तथा चीनी और पाश्चात्य सभ्यता ने थाइलैंड के नाट्य रूपों को समय-समय पर प्रभावित किया है। वस्तुतः थाइ-लैंड एक ऐसा एशियाई देश है जहाँ अनेक सांस्कृतिक परम्पराओं को लिये हुए रंगमंच नित्य फल-फूल रहा है।

इन देशों की भाँति श्रीलंका का रंगमंच भी भारतीय परम्परा से प्रभावित है। कालिदास का नाम एक किंवदन्ती के आधार पर वहाँ के कवि-शासक कुमारदास के साथ जुड़ा हुआ है जिसने स्वयं जानकी हरण काव्य की रचना की थी। श्रीलंका की संस्कृति के और भी तत्त्व हैं किन्तु बौद्ध परम्परा वहाँ की जानी-मानी परम्परा है जिसने अनेक अनुष्ठानों और आख्यानों को जन्म दिया है। यहाँ जो नाट्य रूप धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं के बीच से उभरे उनमें सोकरी, कोलम, नादगम् उल्लेखनीय हैं। कोलम में मुखौटों का प्रयोग होता है और उसमें उपदेश-गर्भित आख्यानों को प्रस्तुत किया जाता है। श्रीलंका में पारंपरिक रंगमंच मृतप्राय हो चुका है; किन्तु कोरस, सूत्रधार, ऑरकेस्ट्रा तथा दृश्यबंध के बिना भी नाट्य-प्रयोग के कुछ सूत्र आज भी नष्ट नहीं हुए हैं।

रंगमंच की समृद्ध परम्परा के लिए तिब्बत, चीन और जापान की नाट्य

परम्परा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। तिब्बत मे पर्व-नाट्यों का महत्त्व मुख्य रहा है जो प्रायः बौद्ध धर्म के विभिन्न आचारों को मुखर करते हैं। तिब्बत की रग-परम्परा यद्यपि अपने देश से बाहर कभी चर्चित नही रही, किन्तु ऐशियाई देशो की सगीत-नृत्यमयी नाट्य योजना मे उसका भी महत्त्वपूर्ण योगदान कहा जा सकता है। उसने एक ऐसे नाट्य-रूप को जन्म दिया जिसमे गीत, नृत्य और संवाद का सामंजस्य होता है और उसके साथ ही सूच्य सामग्री का भी समावेश होता है। सदियों से तिब्बत के मठों मे धार्मिक रंगमंचीय गतिविधियों को प्रोत्साहन मिलता रहा है। धार्मिक पर्वों के अवसर पर प्रायः लोग पर्वतों की उपत्यका मे एकत्र होते थे और अभिनय स्थल के चारो तरफ घिर आते थे। उसी में एक चँदोवा-सा टाँगकर रंगमंडप बनाया जाता था। अभिनय मे गीत, नृत्य और विवरण का तत्त्व मुख्य होता था तथा उसमे यथार्थ और कल्पना का समन्वय होता था। वास्तविक दृश्य विधान के स्थान पर केवल प्रतीक से काम लिया जाता था। उदाहरण के लिए लाल कपड़े मे लिपटा हुआ लकड़ी का खूँटा घोड़े का आभास देने के लिए काफी था, या पेड़ की कुछ टहनियाँ जमीन मे गाड़ देना ही जंगल की प्रतीति का आधार था। कुर्सी पहाड़ का प्रतीक सरलता से बन जाती थी। इस प्रकार चाहे वह कथकलि हो या तिब्बती या सुदूर पूर्व एशियाई नाट्य सर्वत्र एक बात साफ दृष्टिगत होती है कि सबने अपनी रंगीय रूढ़ियाँ विकसित की, जिनका रंगमंच के विकास में महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है।

विकास की इसी परम्परा मे प्राचीन चीनी और जापानी रगमंच की देन उल्लेखनीय है। चीनी रंगमच एक सुगठित शैलीबद्ध रंगमंच का परिचायक रहा है। वस्तुतः उसे सबसे सरल किन्तु सबसे समृद्ध रंगमंच कहा जाता है। उसका प्राचीनतम रूप मठों और मन्दिरो से संबद्ध है जो प्रायः पत्थरों के बने होते थे। मन्दिरों से सबद्ध ये रंगमंच ऊँचे मंडप की भाँति होते थे जिन पर कोई परदा या प्रसीनियम नही होता था। प्रेक्षक तीनों ओर से बैठते थे। पुरुष जमीन पर बैठते थे, किन्तु स्त्रियों के लिए छोटे-छोटे पर्दों मे बँटे कक्षो की व्यवस्था थी। यही मन्दिर-स्थित रगमंच बाद के कला-रंगमंच का आधार बना। कालांतर मे रंगशालाएँ राज्य के संरक्षण मे आती गयी। प्राय. धनिक लोग अपने भवनो में नाट्य की आयोजना करवाते थे। इस तरह निजी रंगशालाएँ अस्तित्व में आयीं। साम्राज्ञी डोवागर ने एक ऐसी ही निजी रंगशाला पीकिंग मे अपने राजप्रासाद में बनवाई थी जो तिमंजिली थी और उसमें अनिष्टकारिणी शक्तियाँ नीचे से और आकाशचारी देवी-देवता दूसरी मंजिल से मंच पर अवतरित होते

थे। इस प्रकार के निजी रंगगृहों तक सामान्य जनता की पहुँच नहीं होती थी। मन्दिर स्थित रंगमंच के बाद जनसाधारण की पहुँच उन सार्वजनिक प्रेक्षागृहों तक ही थी जिनका अस्थायी ढाँचा तख्तों, खम्भों, बाँस आदि के सहारे खड़ा किया जाता था। फिर ऐसे चलते-फिरते दल अधिक थे जो उत्सवों के अवसर पर गाँवों और कस्बों में जाकर नाट्य प्रदर्शन करते थे। १८५७ मे प्रकाशित अपनी पुस्तक में जन साधारण के लिए आयोजित इन प्रदर्शनों की चर्चा करते हुए रॉबर्ट फॉरच्यून ने लिखा है कि ये नाटक दुपहर मे शुरू होते थे और हजारो की संख्या में देखे जाते थे। मंच खड़े किए जाते थे और प्रदर्शन के बाद लुप्त हो जाते थे।

स्थायी ढंग का रंगमंच का उद्भव चायघरों मे हुआ है। चिंग वंश (१८१६-१९१२) के राज्य काल मे इस परम्परा का विकास हुआ। प्रेक्षक कुर्सियों और मेजों पर बैठे हुए चाय पीते जाते थे और नाट्य प्रदर्शन देखते जाते थे। नाटक देखना, चाय पीना और आपस में बातचीत करते जाना दोनों काम साथ-साथ चलता था। इसलिए उन्हें रंगशाला न कहकर चा युवान (चाय उद्यान) कहना ज्यादा उपयुक्त समझा जाता था।

पुरानी पद्धति की सबसे प्रसिद्ध रंगशाला जो आज भी पिछली परम्परा सुरक्षित रखे हुए है, पीकिंग की 'कुआंग हो लो' है। इसकी स्थापना सत्रहवी सदी मे हुई थी। इसमें पाश्चात्य प्रणाली की प्रकाश-योजना और बैठने की व्यवस्था है। १९११ की क्रान्ति के बाद रंगशाला के स्थापत्य मे अन्तर आया जिससे पारंपरिक रंगमंच-कला का विघटन होता गया और पाश्चात्य प्रणाली का प्रोसीनियम (रंगद्वार) को प्रमुखता दी गयी किन्तु बाद मे चौखट (फ्रेम) वाला रंग-प्रकार अधिक मान्य हुआ। इसी के साथ दृश्य सज्जा और प्रकाश सम्बन्धी प्रयोग शुरू हुए; किन्तु नयी परम्परा को पाश्चात्य ढंग से विकसित करने में चीनी मंच कभी आगे नही बढ सका। इसका मुख्य कारण यह है कि पुरानी रंग-पद्धतियाँ वहाँ आज भी लोकप्रिय है। क्लासिक चीनी ओपेरा आज भी अपनी कलात्मक उपलब्धि के लिए देश-विदेश मे प्रसिद्ध है।

चीनी रगमच मूलतः अयथार्थवादी रंगमंच है और उस पर दृश्य सज्जा का कभी उतना महत्त्व नही रहा जितना पश्चिमी रंगमंच पर। इसीलिए जिस रगमच को उन्होंने समर्थन किया वह सीधा-सादा, मुक्ताकाशी रंगमच है जिसके पीछे की भीत पर दो द्वार होते है। वस्तुतः चीनी रगमंच के ढाँचे में पश्चिम के लोगों को कोई स्थापत्य, कोई भव्यता नही दिखाई देती; किन्तु सचाई यह है कि उसकी गरिमा उसके रूपाकार में नहीं भावना और कला मे है। एशिया की रंग-अवधारणा के अनुरूप ही चीन का रंगमंच अधिक संगीत और नृत्य से परिपूर्ण है। इसीलिए उसका आधार स्थूल यथार्थ न होकर सूक्ष्म

भावानुभूति है।

चीनी मंच पर संगीत का पर्याप्त प्रयोग होता है। किसी भी तीव्र भावना की अभिव्यक्ति के लिए प्रायः संगीत का ही सहारा लिया जाता है। इसी प्रकार पात्र के प्रवेश, बहिर्गमन आदि अवसरों पर विशिष्ट ध्वनि संगीत के प्रयोग की प्रणाली है। यही नहीं, अलग-अलग कोटि के पात्रों के लिए अलग-अलग ढंग के ध्वनि वाद्य बजाने की प्रथा प्रबल रही है। कभी-कभी तो मंच पर इतनी तीव्र और बहुल ध्वनियाँ सुनाई देती है कि एक नये अजनबी प्रेक्षक के लिए वे असह्य हो उठती हैं। वस्तुतः चीनी नाटक संगीतात्मक है और संगीत नृत्य के साथ जुड़ा है।

वस्तुतः चीनी अभिनय पद्धति के तीन महत्त्वपूर्ण अंग हैं—नृत्य, संगीत और गति। गति के कारण चीनी रंगमंच पर अभिनेता सर्वाधिक मुख्यता प्राप्त कर लेता है। यहाँ तक कहा जाता है कि चीनी लोग नाटक देखने नहीं जाते, अभिनेता को देखने जाते हैं। इसका कारण यह है कि चीन में अभिनय एक कठिन कला मानी जाती है। बड़े परिश्रम और अनुशासन से अभिनेता उसे अर्जित करता है। उसके लिए कई प्रशिक्षण केंद्र होते है जहाँ लड़के-लडकियाँ छोटी उम्र से ही शिक्षा पाते हैं। अभिनय पूर्णतः रीतिबद्ध होता है; इसलिए उसके लिए निश्चित प्रशिक्षण की अनिवार्यता सदा बनी रहती है। अभिनय की ऐसी ही व्यवस्थित रूढ़ियाँ हमारे प्राचीन भारतीय रंगमंच पर भी प्रचलित रही है। चीनी रंगमंच पर अभिनेताओं की भूमिकाएँ मुख्यतः चार प्रकार की मानी गयी है : शेंग (पुरुष), तान (स्त्री), चिंग (चित्रित चेहरा), और चाऊ (विदूषकीय कॉमिक)।

इनमे तान अभिनेता वे होते हैं जो स्त्रियों का अभिनय करते हैं। उन्हें अपने अंग-प्रत्यंग और सुन्दरता सभी दृष्टियों से यह आभास देना होता था जैसे कि वे वास्तविक रूप में स्त्री ही हों। धीरे-धीरे यह परम्परा समाप्त हो गयी। अब स्त्रियाँ ही अपना पार्ट करती हैं। चिंग अभिनेताओं के चेहरों पर रंगीन आकृतियाँ पेण्ट की जाती हैं। प्रायः योद्धा, चोर, डाकू, राजनीतिज्ञ, देवता, अतिप्राकृत शक्तियाँ आदि ही इस कोटि के पात्रों मे आते है। रंगीन आकृतियों, वस्त्रों आदि से ऐसे पात्रों के चरित्र को मंच पर उजागर करने का प्रयास किया जाता है। चाऊ अभिनेता अपने भोंडे मजाक, नकल और कलाबाजी से काम लेता है। उसकी आँखों और नाक को प्रायः सफेद और काले रंग से रँग दिया जाता है। वस्तुतः हर प्रकार के अभिनय के लिए रंग, भंगिमा, गतियाँ तथा वाचिक अभिनय की पद्धतियाँ निश्चित थीं। निर्धारित गतियों की संख्या किसी भी प्रकार कम नहीं थी। ये गतियाँ हाथों, आस्तीनों, पाँवों, दाढ़ी आदि से सम्बन्धित थी।

चीनी रंगमंच पर प्राचीन काल से ही वेशभूषा का विशेष महत्त्व रहा है। प्रायः वेशभूषा के माध्यम से ही पात्र का पद, स्थिति और वर्ग को व्यंजित किया जाता है। चीनी मंच पर वेशभूषा को व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध ही नही किया गया वरन् उसके आकर्षक और अतिरंजित रूप पर भी बल दिया गया। इसके साथ ही अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप मे रंग को विशेष महत्त्व दिया गया। उच्चकुल के व्यक्ति के लाल, गुणवान्, चरित्रवान् व्यक्ति के लिए हरा; सम्राट् के लिए पीला; वृद्ध के लिए सफेद; भीषण व्यक्ति के लिए काला रंग वेशभूषा के आवश्यक उपकरण के रूप मे अनिवार्य समझा जाता था। इसके ऊपर आलंकारिक अभिप्राय (मोटिफ) चित्रित करने की भी परम्परा थी, जैसे चमगादड़, फूल, स्वस्तिका अथवा जीवन के उद्गम को व्यक्त करने वाले यिन-यांग प्रतीक। इसी प्रकार वैशिष्ट्य के लिए सिर के विभिन्न परिधान, वेश-विन्यास की विविध शैलियाँ भी प्रयुक्त होती रही थी। वेश-विन्यास की भाँति ही रूप सज्जा भी चीनी रंगमंच का रीतिबद्ध विषय है। मुख सज्जा के लिए कई प्रकार के रग और डिजाइन प्रयुक्त होते रहे है। चालाक और धोखेबाज या कामुक पात्रों के मुँह सफेद रंग और काले धब्बे से पोत दिए जाने की परम्परा बहुत पुरानी है।

चीनी रंगमंच पर सामग्री के प्रतीकात्मक या सकेतात्मक प्रयोग की परम्परा भी बहुत पुरानी है। सारी अभिनय प्रणाली ही ऐसी है कि उसमें अभिनेता को संकेत और प्रेक्षक को कल्पना से काम लेना पडता है। इसीलिए काली झंडी को समूह में हिला देना तूफान का परिचायक बन जाता है; काला-नीला कपड़ा दीवाल का प्रतीक बन जाता है और मंच के एक कोने पर पडी कुर्सी कुएँ या पहाड़ का संकेत देती है। इसी प्रकार एक पूरे उद्यान का आभास फूल से कढे हुए गलीचे से दिया जाता है। इसी प्रकार घोड़े की सवारी करना, नदी में तैरना, नाव चलाना, सूत कातना सभी क्रिया-व्यापार सांकेतिक रूप से तथा मंच सामग्री के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

इस प्रकार चीनी रंगमंच की परम्परा यथार्थवादी रूढ़ियों पर अवलम्बित नही है। इस पर भी वह प्रेक्षकों को एक विलक्षण रंगानुभूति प्रदान करता है। पश्चिम की नाट्य परम्परा के लिए वह सीधी-सी चुनौती पेश करता है।

चीनी रंगमंच की भाँति ही जापानी रंगमंच की भी निराली परम्परा है। कई अर्थों में दोनों रंगमंचों मे पर्याप्त समानता भी है। दोनों की जड़ें दृश्यसज्जा-हीन, रीतिबद्ध रंगीय विचारधारा में निहित हैं। यह समानता संयोग पर निर्भर नहीं। वस्तुतः रंगमंच के इतिहास में एक-सी प्रक्रियाओं के सहज दर्शन

स्वाभाविक है।

जापान की नोह और काबूकी रंग-परम्परा आज विश्व की प्रतिष्ठित रंग-कलाओं में गिनी जाती है। जापान उन देशों में है जो पश्चिम की ओर आँख मूंदकर दौड़ने के बजाय अपने पारम्परिक नाट्य रूपों को सुरक्षित रखे हुए है। कुछ विशेषज्ञों का कहना है कि जापान की यह रंग-परम्परा लगभग २५०० वर्ष पुरानी है। संसार के किसी भी देश का इतना लम्बा और अटूट इतिहास नहीं है।

जापानी नाट्य परम्परा नृत्यों से विकसित हुई है। इन नृत्यों में एक नृत्य कगूरा भी था जो सूर्य देवी (!) के सामने प्रस्तुत किया जाता था। दूसरी नाट्य परम्परा गिगाकू के नाम से ख्यात थी। यह एक प्रकार का मुखौटा नृत्य था जिसे सातवीं शती में मिमाशी नामक एक कोरियाई व्यक्ति जापान ले आया था। कहा जाता है कि यह नृत्य-नाट्य रूप भारत में बुद्ध के आगे प्रस्तुत किसी नृत्य का पूर्व-रूप था। कुछ समय बाद बुगाकू नृत्य की परम्परा चल पड़ी और ग्यारहवीं सदी तक उसे दरबारी मनोरंजन और धार्मिक अनुष्ठान (बौद्ध अनुष्ठान) के रूप में मान्यता प्राप्त रही। फिर जनता के मनोरंजन के लिए डेंगाकू नृत्य-रूप सामने आया और अन्ततः सारुगाकू जो बाद में विकसित होकर नोह नाट्य रूप का जनक बना जिसे बौद्ध पुरोहित कवनामी (१३३३-१३८४) और उसके पुत्र जियामी (१३६३-१४१४) ने एक स्थिर रूप देने का प्रयास किया।

नोह शब्द का अर्थ होता है—शिल्प, निपुणता, क्षमता आदि। नोह नाटकों की एक अटूट लम्बी परम्परा रही है। इसलिए वे संख्या में अगणित रहे होंगे, किन्तु अब २५० के लगभग नोह नाटक ही अवशिष्ट मिलते हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से ये नाटक निम्नलिखित वर्गों में आते हैं: शिन (देवता), नान (पुरुष), न्यो (स्त्री), क्यो (विक्षिप्त) तथा कि (राक्षस)। ये, जैसा कि स्पष्ट है देवों, दनुजों, भूत-प्रेतों, उन्मादियों तथा स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में होते हैं।

नोह नाटक का रचना-विधान सुरचित नाटक की भाँति पूर्णतः निर्धारित होता है। उसके मुख्यतः आदि, मध्य, अंत के रूप में तीन अंग होते हैं—जो, हो, क्यू। नोह नाटक का कथानक किसी पूर्व-घटित घटना पर अवलम्बित होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि केवल नाटकीय स्थिति को ही मंच पर प्रस्तुत किया जाता है, शेष को गायन या संवाद के रूप में कोरस और पात्रों के द्वारा सूचित मात्र किया जाता है। नोह नाटक का प्रारम्भ दृश्य की सूचना से होता है। पार्श्व पात्र (वाकी) प्रवेश करके अपना परिचय देता है। पार्श्व में स्थित कोरस नाट्यस्थिति की व्याख्या करता है और दूसरे पात्र की उपस्थिति के साथ वार्तालाप शुरू होता है और उसके बाद मात्रागीत

चलता है जिसे शिदाई या मिचियूकी कहा जाता है। जब कोरस गीत गाया जाता है तो पार्श्व चरित्र चलता-फिरता रहता है और ऐसी आशा की जाती है कि यात्रा करते हुए वह अपने लक्ष्य स्थल पर पहुंच गया है। तब मुख्य पात्र (शीते) अन्य पात्रों के साथ प्रवेश करता है और इसी के साथ कथावस्तु के विकास के संकेत उभरते है। मध्य भाग मे मुख्य पात्र नृत्य करता है और जब वह चला जाता है तो एक प्रहसनात्मक प्रसंग जिसे क्योगेन कहते है, प्रस्तुत किया जाता है, जो अन्य पात्रो द्वारा अभिनीत होता है। इसमे अंतिम और सर्वप्रमुख अंश अन्त का होता है जिसमें प्रमुख पात्र फिर लौटकर प्रवेश करता है। यहाँ उसके रहस्य का उद्घाटन होता है और नृत्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

भारतीय नाट्यशास्त्र की पूर्वरंग पद्धति के अनुरूप ही नोह नाटक की प्रस्तुति में कई अनुष्ठान निहित होते है। इसमे सर्वप्रथम आयुष्य और मागल्य के लिए ओकिना नृत्य किया जाता है। उसके बाद मंच पर सेंजाई (एक हजार वर्ष) नामक पात्र प्रवेश करता है जो मातृत्व और सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है। उसके बाद घंटी बजाता और नृत्य करता हुआ सांबा प्रवेश करता है। इस तरह के अनुष्ठान के बाद हर कोटि के नाटको मे से छः नोह नाटक क्रम से प्रस्तुत किए जाने का विधान है।

नोह रंगमंच सीधा-सादा होता है। नाट्य मंडप १६ फीट लम्बा और उतना ही चौड़ा होता है। यह लकड़ी के खम्भों पर खड़ा किया जाता है और उसके ऊपर से एक सजी हुई छत होती है। मंच के पीछे एक खाली दीवाल होती है, जिस पर एक वृक्ष की आकृति अंकित होती है। सज्जा के नाम पर नोह मंच पर इतना ही होता है। हाँ, कभी-कभी विशेष नाट्य प्रदर्शनों के अवसर पर पर्वत, वाहन, मीनार, कुआँ आदि जैसी दृश्य वस्तुओ का भी समाहार किया जाता है। मंच की दाहिनी ओर कोरस के लिए और पीछे ऑरकेस्ट्रा के लिए स्थान होता है। सज्जागृह कुछ दूरी पर बायी ओर होता है और यह मुख्य रंगमच से संबद्ध एक अलग हिस्सा होता है जो हाशिगाकारी पुल या मार्ग से जुड़ा होता है। यही से होकर अभिनेता प्रवेश करते हैं। यह स्थान पेड़-पौधों से सजाया जाता है। प्रेक्षक मंच के सामने और उसके एक तरफ बैठते हैं; पर दूसरी तरफ भी कुछ लोगों के बैठने का स्थान होता है। इस प्रकार मुक्ताकाशी रगमंच के समान ही इसमे बैठने की व्यवस्था होती है।

नोह नाटक की गति बहुत धीमी और रीतिबद्ध होती है। पैरो की हर गति और हाथो की हर इंगित नपा-तुला और सधा हुआ होता है। उसमें नृत्य और संगीत की प्रधानता होती है। सब भूमिकाएँ प्रायः पुरुषों के द्वारा खेली जाती हैं। उनमे वेशभूषा की भव्यता दर्शनीय होती है। स्त्रियों, राक्षसों, भूत-प्रेत

आदि पात्रों की भूमिका में मुखौटों का प्रयोग होता है। नोह नाटक अपनी रीति-बद्धता के कारण कुछ घरानों की बपौती बना हुआ है जो उसकी कला को पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रखे हुए हैं। नोह नाटक प्रायः धनिकों के मनोरंजन की सामग्री रहे हैं। साधारण लोगों को उसे देखने के लिए धन का व्यय करना पड़ता था। एक ऐसा भी समय आया जब उन्हें कानूनन इस अधिकार से वंचित किया गया। केवल सामुराई या योद्धा ही उसे देख सकते थे। फलतः एक समय ऐसा भी आया जब नोह नाटको का जन-साधारण से सम्पर्क ही टूट गया और उनकी परम्परा को व्याघात पहुँच गया।

नोह रंगमंच की पूर्णता ने काबुकी रंगमंच के लिए ठोस आधार प्रस्तुत किया। कहा जाता है कि दसवीं शती में चीनी विद्वान् जापान आने लगे थे जो अपने साथ वहाँ की कई धार्मिक मान्यताएँ साथ लाए। वहाँ सोलहवीं शती में एक शब्द प्रयोग में आता था—काबू (का का अर्थ है गीत और बू का अर्थ नृत्य)। जापानियो ने इसके साथ क्रियार्थक प्रत्यय सू जोड़कर काबुसू शब्द बनाया जिसका अर्थ हुआ नाचना और गाना। कुछ लोग काबुकी नामकरण का आधार इसी को मानते हैं। किन्तु कुछ विद्वान् इसका सम्बन्ध एक और शब्द काबुकू से जोड़ते हैं जिसका अर्थ चुलबुली नारी होता है और कुछ काटामुकू से जिसका अभिप्राय पहाड़ से ढुलकना या ह्रास होता है। काबुकी नामकरण के पीछे जो भी बात रही हो, इतना निश्चित है कि सोलहवीं शती में जब विशेष ढंग के नृत्यों का प्रचलन हुआ तो काबुकू उनमें से एक बहुत ही लोकप्रिय नृत्य-रूप था। बहुत सम्भव है उसी से काबुकी नाम चल पड़ा हो। की प्रत्यय कला, निपुणता या शिल्प के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काबुकी नृत्य-संगीत कला का द्योतक है।

प्राचीन काल मे जापान के मन्दिरों में बौद्ध और शिनो धर्मों से सम्बन्धित उत्सवों पर नृत्यों का आयोजन होता था। कहा जाता है कि १५८६ में एक नर्तकी ने एक बार ऐसे ही नृत्य का आयोजन मन्दिर मे न कर दूर कामो नदी के तट पर किया था। उसका नाम ओ-कुनी था और उसी को काबुकी का श्रीगणेश करने का श्रेय प्राप्त है। वह बौद्ध धार्मिक नृत्यों में पारंगत थी। शीघ्र ही उसे अपने प्रेमी नागोया संजाबूरो को अपने साथ मिला लिया; कई और स्त्री-पुरुष भी उससे आ मिले। उसने नोह पर आधारित रंगमंच की स्थापना की और इस प्रकार जनसाधारण की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए काबुकी का श्रीगणेश किया। ओ-कुनी ने अपने इस नाट्य रूप में नृत्य और संगीत के साथ कॉमिक प्रसंगो का भी समावेश किया और इसके साथ ही एक और

भाग—साराबाका—का सन्निवेश किया। नाटक की कथावस्तु को भी उसने ऐतिहासिक प्रसंगों, वीरतापूर्ण आख्यानों तथा लोकप्रिय प्रेमकथाओं से जोड़ने का प्रयास किया। इन प्रयत्नों से काबुकी की लोकप्रियता निरन्तर बढ़ती गयी।

ओ-कुनि के रंगमंच की लोकप्रियता के साथ ही अभिनेताओं के अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए जिनमें ओन्ना काबुकी विशेष आकर्षण का विषय बना क्योंकि उसमें प्रायः स्त्रियाँ ही अधिक काम करती थी। इनसे वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन मिला। फलतः १६२९ में इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और स्त्रियों को उसमें भाग लेने की मनाही की गयी। स्त्रियों के काबूकी के समाप्त होते ही युवा पुरुषों की—वाकाशू काबूकी का प्रचलन चल पड़ा। शारीरिक सौंदर्य इसमें भी विकार का कारण बना और १६५२ में इस पर भी सरकार को प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। फिर वयस्क लोग मंच पर आये तो यारो काबूकी का आविर्भाव हुआ जिसमें यौन भावना गौण हो गयी जो अब तक काबूकी के आकर्षण की मूल आधार थी और उसके स्थान पर नाटकीय तत्त्वों का विकास हुआ। फलतः १६६४ में पहली बार ओसाका में फुकुइ योगोजेमोन का लिखा पूरा नाटक हिनिन नो अदोची मंच पर आया और उसके साथ कई ख्यात नाटककारों और अभिनेताओं की परम्परा का विकास हुआ।

१६८८-१७०३ के बीच गेनरोकू युग में काबूकी अपने चरम पर पहुँच गया। इस काल में काबूकी ने एक निश्चित रूप धारण किया जिसमें वह एक नृत्य रूप से नाट्य रूप की ओर अग्रसर हुआ। प्रारम्भ में काबूकी में स्त्री, पुरुष और हास्य अभिनेता की भूमिकाएँ ही थी—अब उसमें आठ आधारभूत भूमिकाएँ विकसित हुईं—नायक, खलनायक, स्त्री, कॉमेडियन, बूढ़ा पुरुष, बूढ़ी स्त्री, युवा व्यक्ति और बच्चा जिन्हें क्रमशः याचीयाकू, कतकीयाकू, ओन्नागाता, डोकेयाकू, ओयाजीकाता, क्याशागाता, वाकाशूगाता तथा कोयाकू नामों से पुकारा जाता है। ऐयाशी का साधन होने के कारण बहुधा काबूकी रंगमंच समय-समय पर विघटित होता रहा है। पाश्चात्य प्रभाव ने भी उन्नीसवीं सदी में उसे झकझोर कर रख दिया था; किन्तु कुछ अच्छे नाटककारों और अभिनेताओं के कारण वह नष्ट होने से बच गया। इसी समय काबूकी की कथावस्तु और चरित्र योजना में नये तत्त्व समाहित हुए और आज स्थिति यह है कि काबूकी मंच पर त्रासदियों, कामदियों से लेकर नृत्य नाटक, अतिकल्पना अतिरंजित वीरता-प्रधान ऐतिहासिक नाटक तक सभी कुछ प्रस्तुत किए हैं।

काबूकी नाटक का मूल तत्त्व नृत्य और [illegible] । इसीलिए
और नृत्य की भावमयी मुद्राओं और [illegible] ।नता।
विभिन्न गतियों का आधार उसे एक [illegible] दान

रंगमंच पर गतियाँ, भंगिमाएँ और मुद्राएँ सब कुछ रीतिबद्ध होती हैं। जापान में पुत्तलिका मंच बहुत लोकप्रिय रहा है। यही कारण है कि अभिनय पर भी कठपुतलियों का विशेष प्रभाव पड़ा है। काबूकी अभिनेता की गतियाँ और भंगिमाएँ उन्हीं की तरह नपी-तुली और नृत्यमयी होती हैं। इसकी काबूकी मंच पर इतनी प्रधानता होती है कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि सारा नाट्य व्यापार एक भावमुद्रा से दूसरी भाव-मुद्रा की ओर अभिमुख हो रहा है।

काबूकी मंच का अभिनेता बड़ा सधा हुआ व्यक्ति होता है। इसका कारण वह अनुशासन और प्रशिक्षण है जिसके बीच तपकर उसे निकलना पड़ता है। जापान में अभिनेताओं के प्रसिद्ध घराने होते आये हैं। जब कोई प्रसिद्ध अभिनेता मरता था तो वह अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित करता था। वस्तुतः निर्णायक इतने सख्त होते हैं कि १९०३ में नवम् दंजोरो की मृत्यु के बाद कोई भी व्यक्ति अब तक इचिकावा दंजोरो की उपाधि के लिए उपयुक्त नहीं समझा गया। एक निश्चित अनुशासन और प्रशिक्षण की प्रक्रिया के बीच से गुजरने के कारण काबूकी अभिनेता के पास हाथ और पैरों की गतियों तथा मुँह, ओठ, नाक, आँख, भौंह आदि की विभिन्न मुद्राओं का अक्षय भंडार होता है। इसकी प्रमुखता को देखते हुए ही ओसानाइ कामोरू ने जब पाश्चात्य रंगमंच की प्रवृत्तियों पर बल देना शुरू किया तो जापानी रंगतत्त्वों की रूढ़ियों को नकारने के लिए उसने रंगशाला की दीवाल पर लिख दिया था—'रोओ, गाओ नहीं; चलो, नाचो नहीं।'

नृत्य, गीत, गति आदि के समान ही काबूकी मंच पर वेशभूषा का बड़ा महत्त्व है। उसमें तड़क-भड़क, रंगीनी और भव्यता पर विशेष बल होता है, इसीलिए वह आलंकारिक और जटिल होती है। कुछ मुद्राओं में तो वेशभूषा सीधे अभिनय के साथ जुड़ जाती है। काबूकी मंच पर अभिनेता का वस्त्राभूषण धारण करना ही काफी नहीं होता वरन् उन पर बनी विभिन्न आकृतियाँ भी अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। अभिनेता कई प्रकार के भीतरी, बाहरी, उत्तरीय और अधोवस्त्र पहनते हैं जिनके लिए अलग-अलग नाम प्रचलित हैं। वेशभूषा के प्रति जापानी अभिनेता में इतना लगाव दिखाई देता है कि वह मंच पर अनेक वेशभूषाएँ बदलकर आता है। इन्हीं की भाँति अनेक प्रकार मुखौटों, शिरोवस्त्रों और 'विगों' का प्रयोग भी होता है।

काबूकी नाटकों के लिए प्रारम्भ में नोह रंगमंच का ही प्रयोग होता रहा है। बाद में काबूकी ने अपना स्वतन्त्र रंगमंच बनाया जिसमें नोह रंगमंच के भी कई तत्त्व विद्यमान हैं। काबूकी रंगमंच काफी लम्बा-चौड़ा होता है। उसका एक महत्त्वपूर्ण पहलू हानामीची है जिसे फूलों का रास्ता कहते हैं। अभिनेता इसी मार्ग से मंच पर प्रवेश करते हैं। मंच और प्रेक्षागृह को जोड़ने वाला यह

'एशिया का रंगमंच, कम से कम कुछ सीमा तक, अदृश्य जगत् का भी निरूपण करता है जिसमें उसके दृश्य, श्रव्य और आस्वाद के कई पहलू आ जाते हैं। सेतु रंगमंच के आयाम का विस्तार करता है साथ ही प्रेक्षक और अभिनेता के बीच निकटता का समन्वय स्थापित करता है। रंगमंच की विशालता के कारण उस पर पूरी दृश्यावली प्रस्तुत की जा सकती है, जैसे जगल, उद्यान, राजप्रासाद आदि। काबूकी मंच पर कई ऐसे दृश्य भी आयोजित होते है जिनमे नाटक का क्रिया-व्यापार मंच के तीन स्तरो या तीन मंजिलो तक चलता है। काबूकी का दृश्यबन्ध एक वर्गाकार मंडप पर होता है जिसके चारो ओर अभिनय के लिए काफी स्थान होता है। नाट्य मडप और उसके आसपास का क्षेत्र अलग-अलग वर्ग के पात्रो के लिए जगह मुहय्या करता है। अभिनेता कई बार अपनी जगह पर स्थिर रहते है; वे अभिनय तभी करते हैं जब उनकी बारी आती है। फिर भी अभिनय की प्रक्रिया मंच के विभिन्न क्षेत्रो मे चलती रहती है। कुल मिलाकर जापानी रंगमंच रीतिबद्ध रंगमंच है और पश्चिम में जिसे सत्याभास या यथार्थवाद के नाम से अभिहित किया जाता है, वह वहां की रगकला को नही छू पाया है।

और एशियाई रंगमंच की इस परिक्रमा के बाद एक और समृद्ध रग-परम्परा बच रहती है जिसकी चर्चा अलग से अगले अध्याय मे की जा रही है। भारतीय नाट्य परम्परा ने एशियाई नाट्य रूपो को प्रभावित ही नही किया है, अपने समृद्ध रूप मे एक कलात्मक मानदण्ड भी निर्धारित किया है।

जब हम एशियाई रंग-परम्परा और नाट्य रूपो की चर्चा करते है तो सुप्रसिद्ध पाश्चात्य रगकर्मी गोर्डन क्रैग के उठाये गये एक प्रश्न का उत्तर सामने आता है। प्रश्न है : हमें कौन-सा रंगमंच चाहिए ?—वह उबाऊ और यांत्रिक रंगमंच जो आजकल हमारे पास है या वह जिसमें उल्लासपूर्ण और चिर-अभिनव रंगकला फल-फूल रही है ? पश्चिम का कोई भी व्यक्ति जिसने तिब्बत, वाली, कम्बोडिया, थाइलैण्ड, चीन और जापान की रंग झलक देखी हो, वह जब पश्चिम मे लौटता है, तो उसके मन मे यही प्रश्न उठता है। पश्चिम ने अट्ठारहवी-उन्नीसवी शताब्दी मे इतना समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और दर्शन बघारा है कि वहाँ का आधुनिक रंगमंच कठघरा होकर रह गया जबकि पूर्व का रंगमंच एक पूरा रसात्मक अनुभव देता है। एक अमेरिकन रंगमंच-इतिहासकार ल्योनार्ड सी० प्रोको ने इसी अर्थ में पूर्व के रंगमंच को एक उल्लास पर्व या प्रीतिभोज का रंगमच (ए थियेटर ऑव फीस्ट) कहा है जिसका प्रेक्षक छककर आस्वाद लेता है।

उनका कहना है कि पश्चिम के लिए दृश्य जगत् ही सब कुछ है, किन्तु

समग्रत: यह एक दावत का अनुभव देता है—एक ऐसी दावत का जिसका स्वाद प्रेक्षक एक-दो घंटे नहीं बल्कि पाँच-छः घंटे तक लेता रहता है और कभी-कभी तो सारी रात भर। यह अन्तर्चक्षु और साथ ही बहिर्चक्षु का रंगमंच है। हमारे पुराने रंगमंचों की भाँति यह यथार्थवादी और रंगीयताबद्ध, वस्तुधर्मी और सत्याभासी दोनों है। इसमें यथार्थ और शैलीबद्धता दोनों हैं। इसकी बहुमुखता का एक कारण यह भी है कि यह रंग-विधान (स्पेक्टेकल) पर बल देता है, जब कि हम वार्तालाप पर अधिक बल देते हैं। छपे पृष्ठ के अर्थ पर निर्भर करने के बजाय वह बिम्बों—देशकाल के बीच स्थित नाटकीय काव्य—से काम लेता है। इसीलिए प्राच्य रंगमंच कई पहलुओं से, कई रूपों में आस्वाद देता है। ऐसा रंगमंच अपने सम्मोहन और मतिभ्रम से प्रेक्षक को आवृत भी करता है और अपनी दूरी भी रखता है क्योंकि यह कला के बहुत ही जागरूक और रीतिबद्ध स्वरूप को प्रकट करता है। यह एकदम आत्मपरक और वस्तुपरक दोनों है। यह हमारे स्वप्नों, भीषण भयों और ज्वर-ग्रस्त आशाओं का चित्रण कर हमें उन ऊँचाइयों की ओर ले जाता है जहाँ मतों के शब्दों में आधिभौतिकता की वायु बहती है। और यह काम वह बखूबी पूर्णता के साथ कर दिखाता है।'[1]

एशियाई नाटक और रंगमंच का प्राण-तत्व उसके संगीत, नृत्य और काव्य में निवास करता है। इसके बीच उसने एक अलग स्वरूप अर्जित किया है जिसमें शैली-बद्धता एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। एशियाई मंच पर अभिनय अंग-प्रत्यंगों की विभिन्न भाव मुद्राओं तथा गतियों पर निर्भर करता है और वेशभूषा उसका महत्त्वपूर्ण अंग बन जाती है। प्रेक्षक सारे रंगविधान की काव्यात्मक भाव-भूमि, लयबद्धता और उसके जादुई प्रभाव में स्वत: ही आ जाता है।

आज एशिया का रंगमंच व्यर्थ ही पश्चिम का मुँह जोह रहा है। उसके पास पश्चिम को देने के लिए बहुत कुछ है। सचाई यह है कि आज पश्चिम ने जो नयी ज़मीन तैयार की है, वह एशियाई रंगमंच की ही पारम्परिक देन है। पश्चिम को अरस्तू के अनुकृतिवाद तथा उससे प्रेरित यथार्थवादी विचारधारा से पाश्चात्य रंगमंच को बचाने में एशियाई रंगमंच का बहुत बड़ा हाथ है। एशियाई रंगमंच पश्चिम को अनेक नाट्यशैलियाँ और रंगशिल्प मुहय्या कर सकता है। यदि ब्रेख्त मोह से प्रेरणा ले सकता है तो क्या पश्चिम के अन्य नाटककार भारतीय, चीनी, जापानी या किसी अन्य एशियाई नाट्य-रूप से प्रेरणा नहीं ले सकते ?

१. ल्योनार्ड सी० प्रोंको की पुस्तक 'थियेटर ईस्ट एण्ड वेस्ट' से जेम्स आर० ब्रेंडन द्वारा संपादित 'द पर्फोर्मिंग आर्ट्स इन एशिया' में संकलित लेख, पृ० ३६

जरूरत इस बात की है कि एशियाई रंगमंच की क्षमताओं का उपयोग हो। पश्चिम मे अब उसकी हवा बँध गयी है; पर इतना ही काफी नही है। एशियाई रंगमंच की क्षमताओं का ज्ञान और उसकी प्रविधि का प्रयोग नाट्य लेखन और प्रस्तुतिकरण के क्षेत्र में होना चाहिए जिससे नया नाटक और रंग-मंच का आविर्भाव हो सके।

प्राचीन भारतीय रंग-परम्परा

१

भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय रंग-परम्परा का विशद कोश है। जिस परिवेश में इस महान् ग्रंथ का प्रणयन हुआ, उसकी परम्परा वैदिक है। भरत या नाट्य-शास्त्र का चाहे कोई भी काल रहा हो, किन्तु इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता कि भारत की नाट्य परम्परा बहुत पुरानी है। भरत तक आते-आते और नाट्यशास्त्र के रूप विकसित होते उसे पर्याप्त समय लगा होगा। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्यवेद की उत्पत्ति की जो कथा मिलती है, वह भारतीय नाट्य को वेदों और वैदिक अनुष्ठानों से जोड़ती है। इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा से कहा : क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत् (ना० शा० १।११) और ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना सुनकर ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर पंचमवेद के रूप में नाट्य की रचना की।[1] नाट्य को वेद कहने का अभिप्राय उसकी पवित्रता मात्र व्यंजित करना नहीं था, वरन् संस्कृत नाट्य की धार्मिक-आनुष्ठानिक विशेषताओं को व्यंजित करना था। इसका लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की साधना था। स्वयं भरत ने इसे वेद, स्मृति, सदाचार आदि की परिकल्पना को सार्थक करने वाला बताया है।[2] अभिनव ने इसी आधार पर नाट्य का वेदत्व सिद्ध करने का प्रयास किया है।[3] इसीलिए नाट्य को चाक्षुष् यज्ञ की संज्ञा दी गयी।

१ जग्राह् पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गतिमेव च।
यजुर्वेदादभिनयात् रसानाथर्वणादपि ।। नाट्यशास्त्र १।१७

२. श्रुतिस्मृति सदाचार परिशेषार्थं कल्पनम्।
विनोदजनन लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।। नाट्यशास्त्र १।१२०

३. धर्मादिचतुष्कोपायोपादेयाधिय, अधर्मादिभ्यश्च निवृत्ति निविशक विद्यत्त इत्यस्माकमधित-श्रुतितत्स्थानामपि प्रत्यक्ष सिद्धमेवैतत्॥ अतएवोपदेशहेतुत्वाद्वेदः। प्रसिद्धा चास्य नाट्य-वेद सज्ञा विदिता। अभिनवभारती १।४

नाट्य को वेदों से जोड़कर उसकी प्राचीनता भी संकेतित हुई है। बहुत सम्भव है कि आर्यों से भी पूर्व अनार्य इसकी नींव डाल चुके हों। स्वयं नाट्यशास्त्र में यह कथा आती है कि अपने नाटक अमृतमंथन के मंचन के पूर्व भरत हिमालय में शिव के पास गये थे। तब शिव ने तंडु के माध्यम से नाट्य में अंगहारों, करणों और रेचकों के समाहार का आदेश दिया था।[1] नाट्यशास्त्र में अनार्य देवता शिव की यह महत्ता अनार्यों की देन का बोधक है। वस्तुतः नाट्य की सृष्टि में कई जातियों और कबीलों का महत्त्वपूर्ण योग रहा होगा जैसा कि सात्वती, कैशिकी, आरभटी, वैदर्भी, मागधी, भारती, गौड़ी आदि वृत्तियों के नामकरण से स्पष्ट है। संस्कृत नाटक को भाण, वीथी, व्यायोग, प्रहसन, समवकार, डिम, प्रकरण आदि सामान्य अविकसित नाट्य रूपों से कलात्मक नाटक की ओर अग्रसर होने में पर्याप्त समय लगा होगा। इससे स्पष्ट है कि वेदों से भी पूर्व कोई नाट्य रूप विद्यमान था। स्वयं वेदों में नाट्य तत्त्वों की विद्यमानता थी। ओल्डेनबर्ग की स्थापना है कि नाटक और महाकाव्य की पाठ-विधि में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूत्रधार शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में महाकाव्य के पाठकर्त्ता के लिए ही होता था।[2] उसी के लिए ग्रंथिक शब्द भी चल पड़ा था क्योंकि वह ग्रंथ को पढ़ता था।[3] यही नहीं, जर्जर-पूजा और रंग की सुरक्षा का सारा विधान जो नाट्यशास्त्र (अध्याय ३) में वर्णित हुआ है, वह भी उन आदिम मानवीय प्रवृत्तियों का द्योतक है जिनसे वशीभूत होकर अनिष्टकारी शक्तियाँ नाट्य में बाधाएँ उपस्थित करती थीं।

यदि पूर्व-परम्परा को नकार भी लिया जाय, फिर भी रामायण[4] महाभारत[5] पाणिनि की अष्टाध्यायी[6] कौटिल्य के अर्थशास्त्र,[7] बौद्ध और जैन धर्मग्रन्थों[8], पुराणों[9] आदि में नाट्य की समृद्ध परम्परा का उल्लेख मिलता है। नाटकों की प्रस्तावनाओं से यह भी स्पष्ट है कि नाटक अभिनय के लिए लिखे जाते थे और वे सतत् नाट्यगृहों में प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ प्रस्तुत किये जाते थे। नाट्यशास्त्र के साक्ष्य पर यह भी स्पष्ट है कि भरत ने अपना नाट्य प्रयोग महेन्द्र-

१. नाट्यशास्त्र ३।१६-२०
२. डा० मनमोहन घोष : कन्ट्रीब्यूशन्स टु द हिस्ट्री ऑव हिंदू ड्रामा, पृ० ११
३. संस्कृत ड्रामा, पृ० ४५
४. रामायण २।६६; ६७; १५
५. महाभारत १।५१।१५; ३।१६
६. शिलालि और कृशाश्व नटसूत्र
७. अर्थशास्त्र १।२।२७, २।५।३
८. दीर्घनिकाय १।१।१३; अवदानशतक २।२४; रायसेणीय सुत।
९. हरिवंश पुराण २।८८-९३; मार्कंडेय पुराण २०।४; भागवत १।११।२०

ध्वज उत्सव के अवसर पर किया था।[1] इस सम्बन्ध में नंदिकेश्वर ने अपने अभिनय दर्पण मे स्पष्ट निर्देश दिया है कि नाट्य प्रयोग विवाह, यात्रा, अभिषेक, नगर या गृह-प्रवेश, पुत्र-जन्म तथा विशेष उत्सवों पर आयोजित किये जाने चाहिए।[2] विभिन्न नाटकों की प्रस्तावनाएँ इसके लिए साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। सूत्रधार की उक्तियों से स्पष्ट है कि भवभूति का उत्तररामचरित काल प्रियनाथ की और इसी प्रकार गुरु राम कवि का रत्नेश्वर प्रसादन नाटक भूनाथदेव की यात्रा के समय खेला गया था। भास का प्रतिमा नाटक शरत् काल में, कालिदास का मालविकाग्निमित्र वसंतोत्सव में और अभिज्ञानशाकुन्तल ग्रीष्म ऋतु में विक्रमादित्य की राजसभा के आगे खेला गया था। श्री हर्ष का रत्नावली भी वसंतोत्सव पर खेला गया था। नाट्य प्रयोग राजाओं और राजपुरुषों को तुष्ट करने के लिए होते थे, यह कुन्दमाला मे सूत्रधार की उक्ति से स्पष्ट है। किन्तु नाटकों का खेला जाना उच्च लोगों तक ही (समय या पर्व विशेष तक) ही सीमित रहता आया हो, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। लोक में अनेक उत्सवों और उल्लास के अवसरों पर नाट्य की एक स्वीकृत परम्परा रही होगी।

प्रायः राजप्रासादों और देवालयों में नाट्य प्रयोग होता था, किन्तु यात्राओं, खुले प्रांगणों में भी जनसाधारण के लिए नाटक खेले जाते थे। इसके साथ ही यह प्रश्न उठता है कि नाट्य-गृहों का क्या स्वरूप रहा होगा? नाट्यशास्त्र तत्सम्बन्धी विवेचन बहुत उलझाने वाला है। संस्कृत में स्थापत्य सम्बन्धी शास्त्र का अभाव नहीं है। वास्तुकला के एक प्राचीन ग्रन्थ समरांगण सूत्रधार मे नाट्य मंडपों का उल्लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि बड़े-बड़े मन्दिरों में नाट्य-मंडप हुआ करते थे और कभी-कभी विशेष अवसरों के लिए ही खड़े किये जाते थे। ये प्रायः एक हॉल या पैविलियन की आकृति के होते थे।[3] नाट्यशास्त्र में जिस नाट्यशाला की चर्चा की गयी है, वह मंडप कोटि की नाट्यशाला से ही सम्बन्धित प्रतीत होती है। नाट्यशाला के लिए प्रायः नाट्यवेश्म, प्रेक्षागृह, नाट्य मंडप आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। नाट्य-मंडप के लिए भरत ने शैलगुहाकार होने की बात लिखी है। इसको लेकर कई

१. महानयं प्रयोगस्य समयः समुपस्थितः।
अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते ॥ नाट्यशास्त्र १।५४

२. द्रष्टव्ये नाट्य नृत्ये च पर्वकाले विशेषतः ॥
नत्तं तत्र नरेन्द्राणामभिषेके महोत्सवे।
यात्रायां देवयात्रायां विवाहे प्रियसंगमे ॥
नगराणामगाराणां प्रवेशे पुत्रजन्मनि।
शुभार्थिभिः प्रयोक्तव्यं मांगल्यं सर्वकर्मभिः ॥ अ० द० १२, १३, १४

३. प्रमोद काले : द थियेट्रिक यूनिवर्स, पृ० १४

व्याख्याएँ की गयी हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शैलगुहाकार से भरत का तात्पर्य उस मन्दिर वास्तुकला से था जो लयण, गुहाधार या गुहाराज नाम से अभिहित है। यह एक प्रकार का मन्दिर स्थापत्य था जिसके शैल-गुहाओं को काटकर बनाया जाता था। सीताबेंगा और जोगी-मारा के शैलवेश्मों में नाटक खेले जाते थे, यह तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु नगरों में ही शैलगुहाकार रूप में एक विशिष्ट वास्तुशैली में नाट्य-मंडप बनाए जाते होंगे और जैसा कि भरत ने कहा है, उनका एक लक्षण यह भी था कि उन पर छत रही होगी जिसका मध्य भाग ऊँचा रहा होगा।

भरत ने तीन प्रकार के नाट्य-मंडपों की चर्चा की है : विकृष्ट (आयताकार), चतुरस्र (वर्गाकार) और त्र्यस्र (त्रिभुजाकार)। परवर्ती आचार्यों मे किसी ने इन्हीं को क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम और अवर परिमाण का माना है; किन्तु दूसरों ने इनमें से प्रत्येक के ये तीन-तीन भेद स्वीकार किये हैं और इस प्रकार उनके पूरे नौ भेद माने हैं। अभिनव ने इनकी विस्तृत व्याख्या की है। इन सब विवरणों के आधार पर विद्वानों ने संस्कृत रंगमंच के आकार-प्रकार को इस प्रकार निर्धारित किया है :

विकृष्ट

ज्येष्ठ	१०८ × ६४ हाथ (१६२ फीट × ९६ फीट)
मध्यम	६४ × ३२ हाथ (९६ फीट × ४८ फीट)
कनिष्ठ	३२ × १६ हाथ (४८ फीट × २४ फीट)

चतुरस्र

ज्येष्ठ	१०८ × १०८ हाथ (१६२ फीट × १६२ फीट)
मध्यम	६४ × ६४ हाथ (९६ फीट × ९६ फीट)
कनिष्ठ	३२ × ३२ हाथ (४८ फीट × ४८ फीट)

त्र्यस्र

ज्येष्ठ	१०८ हाथ लम्बा (लम्ब रूप मे)
मध्यम	६४ हाथ लम्बा (९६ फीट)
त्र्यस्र	३२ हाथ लम्बा (४८ फीट)

भरत ने विकृष्ट मध्य (६४ × ३२) से बड़े रंगमंच को उचित नही माना है। यह स्पष्ट रूप से मान लिया गया है कि लम्बे-चौड़े रंगपीठ केवल डिम आदि नाटकों के लिए ही उपयुक्त होते हैं जिनमे असुर आदि पात्र होते हैं।

विभिन्न कोटि के नाट्य मंडप की उपयोगिता विभिन्न पात्रों—देवता, असुर, सामान्य जन—के आधार पर आँकी गयी है। इनमें मध्यम परिमाण वाले मंडप को ही उत्तम माना गया है।

इसके साथ ही नाट्य-मंडप को चार भागों में विभाजित करने की विधि भी बताई गयी है। सबसे पहले 'द्विधा कुर्यात्' के आदेश के अनुसार दो भागों में बाँटने का विधान है। फिर उन दो भागों को भी दो भागों में बाँटने की बात कही गयी है। इस तरह सबसे पिछला भाग नेपथ्य, उसके बाद का रंगशीर्ष, फिर रंगपीठ, और सबसे आगे का भाग प्रेक्षकोपवेश कहलाया। रंगशीर्ष और रंगपीठ ने विद्वानों को बड़ी कठिनाई में डाल रखा है। मन्कद, राघवन, केतकर आदि विद्वान् रंगशीर्ष को रंगपीठ से भिन्न स्थल मानते हैं। कुछ विद्वान् जिनमें मनमोहन घोष आदि उल्लेखनीय हैं रंगपीठ और रंगशीर्ष को एक ही सिद्ध करते हैं। कुछ विद्वान् रंगशीर्ष को 'शीर्ष' शब्द के आधार पर रंगपीठ से ऊँचा बताते हैं। इसके विरोध में यह तर्क दिया जाता है कि यहाँ शीर्ष वास्तुपुरुष का शीर्ष है जो कि रंगमंच के लिए अभिप्रेत है।

रंगपीठ के सन्दर्भ में एक समस्या द्विभूमि शब्द को लेकर उठाई गयी है। एक मत यह है कि रंगपीठ में ही ऊँची और नीची दो भूमियाँ होती थीं। एक अन्य मत के अनुसार रंगपीठ दोमंजिला होता था। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि रंगपीठ के दोनों ओर मत्तवारणी बनाई जाएँ जो रंगपीठ से कुछ ऊँची होती थी। इसके सम्बन्ध में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद दिखाई देता है। मन्कद, केतकर, घोष, राघवन, कीथ, सुब्बाराव सब ने अपनी-अपनी अटकलें लगाई हैं। इसका जो भी स्वरूप रहा हो, इतना निश्चित है कि यह चार स्तम्भों से युक्त होती थी; इसका लक्ष्य आपत्तियों और बाधाओं का निवारण करना था और सम्भवतः धार्मिक अनुष्ठान के लिए इसका प्रयोग होता।

रंगमंच कई कक्ष्याओं में बँटा होता था। नाट्यशास्त्र में स्पष्टतः कक्ष्या-विभाग की बात कही गयी है। कक्ष्याएँ तीन होती थीं—आभ्यंतर, मध्य, बाह्य। ऐसा प्रतीत होता है कि कक्ष्याएँ रंगशीर्ष के स्तम्भों के बीच होती थीं। कुछ लोग इस कक्ष्या-विभाग को वास्तविक और कुछ काल्पनिक मात्र मानते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कोई स्थापत्य-सम्बन्धी विभाजन नहीं था—केवल नाट्य वस्तु की अपेक्षा के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों, स्थानों, नगरों, वन-उपवनों, पर्वतों और स्थान-परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए इस तरह कक्ष्या-विभाग सांकेतिक रूप में किया जाता रहा होगा।[1] संस्कृत रंगमंच, वस्तुतः

१. नाट्यशास्त्र [illegible]

पूर्णतः सत्याभास-विरोधी था। अतः उसमें ऐसे उपायों का प्रयोग बहुत उचित जान पड़ता है।

इसी प्रकार नेपथ्य मुख्य नाट्यशाला का ही महत्त्वपूर्ण भाग होता था। विकृष्ट नाट्यशाला में यह १६ × ३२ हाथ और चतुरस्र में ४ × ३२ हाथ होता था। पात्रों की सज्जा के साथ-साथ इसका प्रयोग उन दृश्यों और ध्वनि-प्रभावों के लिए होता था जिन्हें रंगपीठ पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। संस्कृत रंगमंच पर देखे जानेवाले दृश्यों की भाँति ही नेपथ्य दृश्यों की बड़ी महत्ता थी। हेनरी डब्ल्यू० वेल्स ने ठीक ही कहा है कि संस्कृत नाटक में बहुत सारा क्रिया-कलाप नेपथ्य में घटता है। उसमें बहुत से वर्जित दृश्य मंच के बाहर ही घटित होते हैं, किन्तु इसके साथ ही नेपथ्य के पीछे घटित का भी वह समुचित उपयोग करता है। फलतः उस सीमाहीन अदृश्य जगत् की अवधारणा में मस्तिष्क जैसे सीमा का अतिक्रमण करने लगता है। इसीलिए संस्कृत मंच पर दृश्य और अदृश्य की सीमा को कम करने का प्रयत्न दिखाई देता है।[1]

नाट्यशास्त्र में प्रेक्षकों की आसन-विधि का भी परिचय मिलता है। इस सम्बन्ध में भरत के अतिरिक्त अभिनवगुप्त, भट्टतौत तथा वार्तिककार के मत भी उपलब्ध हैं। विभिन्न जाति और वर्णों के लिए विभिन्न रंग के स्तम्भों के पास बैठने की व्यवस्था थी। श्वेत स्तम्भ के पास ब्राह्मणों के लिए, लाल स्तम्भ के पास क्षत्रियों के लिए और उनके पीछे पीले और नीले स्तम्भों के पीछे वैश्यों और शूद्रों के लिए स्थान नियत था।[2] स्तम्भ और भी होते थे; पर उनके सम्बन्ध में आचार्यों में बड़ा मतभेद दिखाई देता है। इतना निश्चित है कि प्रेक्षकों के आसन सोपानाकृति में होते थे।[3]

प्राचीन यूनानी नाटयशाला की तरह भारतीय नाट्यशाला खुली होती थी, इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता। भरत की सूचनाओं के अनुसार यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय नाट्यशाला शैलगुहाकार, छतदार, कम वातायनों वाली और निर्वात होती थी। कुल मिलाकर भारतीय रंगशाला अपनी अवधारणा में अपूर्व थी।

संस्कृत नाट्य और रंगमंच का मूलाधार भारतीय जीवन-दर्शन है। यह पूछना

१ हेनरी डब्ल्यू० वेल्स : द क्लासिकल ड्रामा ऑव इंडिया, पृ० १०९।

२. नाट्यशास्त्र २।५३-५६

३. स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानकृति पीठकम्।
इष्ट दारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम्॥ नाट्यशास्त्र २।८७
सोपानाकृति पीठकमत्र विधेयं समन्ततो रंगे।—अभिनवभारती २।६३-६४

कि भारतीय रंग-अवधारणा क्या थी, इस प्रश्न को पूछने के समान है कि भारतीय जीवन-दर्शन क्या था ? भारतीय नाट्य और रंगमंच का उद्भव धार्मिक परिस्थितियों में अथवा धार्मिक कृत्य के रूप में हुआ था। इसीलिए उसकी परम्पराएँ अनुष्ठानगत हैं। नाट्यकर्म एक चाक्षुष् यज्ञ के रूप में लिया जाता था और नाट्यशास्त्र में यह स्पष्ट रूप में कहा गया है कि जो रंगपूजा के बिना प्रयोग करेगा उसका नाट्य ज्ञान ही व्यर्थ नहीं जायेगा वरन् वह पशु-योनि में भी चला जायेगा।[1] रंग के निर्माण के लिए धार्मिक विधियाँ निश्चित थीं। नाट्यशाला के निर्माण के लिए भूमि का परिशोधन, मुहूर्त-निर्धारण, पुण्याहवाचन आदि के सम्बन्ध में निश्चित रूढ़ियाँ थीं।[2] इसी प्रकार रंगभूमि में नाट्य प्रयोग से पूर्व रंग की सारी प्रक्रिया में भरत ने प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रावणा, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, संघोटना, मार्गसारित, आसारित, उत्थापन, परिवर्तन, नांदी, रंगद्वार, चारी, महाचारी, त्रिगत, प्ररोचना आदि अनेक विधि-विधानों को गिनाया गया है जो देवताओं आदि के परितोष के लिए यवनिका के अन्दर और बाहर सम्पादित किए जाते थे।[3] नाट्य की सफलता के लिए जर्जर की पूजा, देव-प्रतिमाओं की स्थापना, मत्तवारणी का पूजन और वास्तुदेवता की स्थापना, देव-दनुज, रुद्र, भूतगण, यक्ष, कुबेर, यम आदि से बलि को स्वीकार करने की प्रार्थना, रंगपीठ में पुष्पमालाओं से सज्जित कुंभ की स्थापना, नाट्याचार्य द्वारा कुंभ को फोड़ना, दीपिका को प्रज्वलित करना, रंग-युद्ध आदि कई क्रियाएँ मंच पर नाट्य से पूर्व प्रदर्शित की जाती थीं। इस प्रकार रंगमंच का पूरा वातावरण आनुष्ठानिक और आध्यात्मिक था।

इस आध्यात्मिकता का पोषण भारतीय रंगमंच अपनी कई रूढ़ियों और धर्मिताओं के आधार पर करता है। हमारे यहाँ रंगमंच पश्चिम की तरह थकान उतारने का साधन कभी नहीं रहा है। उसमें मंगल और मांगल्य की भावना मुख्य थी। नाट्यशास्त्र में इसीलिए भरत ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'इस नाट्यवेद के अन्तर्गत कहीं धर्म है, कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ, कहीं शान्ति अथवा श्रम, कहीं हँसी, कहीं युद्ध, कहीं काम और कहीं वध का अनुकरण है। इसमें कर्त्तव्य का पालन करने वालों के लिए कर्त्तव्य की शिक्षा है, काम की इच्छा करने वालों के लिए काम है, दुर्विनीतों के लिए निग्रह करने और विनीत जनों के लिए श्रम की क्रिया भी इसमें विद्यमान है। यह नाट्यवेद कायरों में साहस उत्पन्न करने वाला, यानी वीरों में उत्साह भरने वाला, अज्ञानियों को

१. नाट्यशास्त्र १।१२२-१२७
२. वही २।५०-९०
३. नाट्यशास्त्र, अध्याय ३

ज्ञान-विशेष का बोध कराने वाला तथा ज्ञानियों को विद्वत्ता प्रदान करने वाला है। यह ऐश्वर्यवानों के लिए विलास है, दुखियों को साहस देने वाला, अर्थोपार्जन की इच्छा करने वालों के लिए अर्थप्रद है और उद्विग्न चित्त वालों के लिए धैर्य प्रदान करने वाला है।... यह नाट्य-रस, भाव, कर्म तथा क्रियाओं के अभिनय द्वारा लोक में सबको उपदेश देने वाला है।...यह नाट्य धर्म, यश, आयु को बढ़ाने वाला, बुद्धि को उद्दीप्त करने वाला है।[1]

स्पष्टतः नाट्य का यह दायित्व उसके सामाजिक स्वरूप की व्याख्या करता है और उन लक्ष्यों को उभारता है जो भारतीय संस्कृति के प्राणतत्त्व हैं। इसमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक तत्त्व सर्वोपरि हैं। इन्हीं कारणों से भारतीय रंगमंच और नाट्य का मूल स्वर संघर्ष का न होकर प्राप्ति का है। नाटक की कार्यावस्थाएँ आरम्भ और प्रयत्न से शुरू होकर प्राप्त्याशा, नियताप्ति से होते हुए फलागम की ओर अग्रसर होती हैं। यह ठीक है कि भारतीय नाट्य और रंगमंच दुखों और जीवन के संघर्षों को नकार कर नहीं चलता, पर अन्ततोगत्वा वह जीवन का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ही मानता है। इस दृष्टि से भारतीय नाट्य पश्चिम से बिल्कुल भिन्न ठहरता है। पश्चिम का नाटक व्यक्ति की निजी जिन्दगी और उसकी दुखान्तता से बुरी तरह ग्रस्त है और वह भाग्य की विडम्बनाओं को चित्रित करने में ही संलग्न दिखाई देता है। पश्चिम में संघर्ष का अर्थ है त्रासदी, भाग्यविपर्यय और पराजय। हमारे यहाँ संघर्ष शक्ति, प्राप्ति और विजय का परिचायक है। संस्कृत नाटक में भाग्य नहीं, कर्म का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। इसीलिए उसका नायक का मूल गुण उसका धीर होना था—धीरोदात्त, धीरललित, धीर प्रशान्त, धीरोद्धत—सभी में यह 'धीर' शब्द विद्यमान है। वस्तुतः धीरता उस संघर्ष के लिए अनिवार्य तत्त्व है जिसकी सिद्धि फल-प्राप्ति है। फल-प्राप्ति के लिए प्रयत्न और प्राप्त्याशा की ओर उन्मुख नायक संघर्ष करता है; उसमें सन्तुलन, सामरस्य और शम की स्थिति सर्वत्र दिखाई देती है।

हेनरी डब्ल्यू० वेल्स ने इस तत्त्व की व्याख्या के लिए इक्विलिब्रियम शब्द को चुना है। उनके अनुसार भारतीय नाटक और रंगमंच में विरोधी तत्त्वों का एक अद्भुत सन्तुलन दृष्टिकोचर होता है।[2] उसमें संघर्ष होता है, पर संघर्ष की गति पश्चिमी नाटकों से भिन्न होती है। भारतीय नाटक और मंच एक निश्चित दर्शन और संस्कृति का परिचायक है। वह अपनी प्रवृत्ति में आदर्शवादी है जिसका अन्त संघर्षों पर पाई गयी विजय, तूफान के बाद की शान्ति

१. नाट्यशास्त्र, १।१०६-११५
२. द क्लासिकल ड्रामा ऑव इंडिया, पृ० ४२-५२

में होता है। भारतीय नाटक और रंगमंच के देवता नटराज शिव हैं जो स्वयं विरोधों के बीच सामरस्य के अधिष्ठाता माने जाते हैं। कुल मिलाकर संस्कृत नाटक का लक्ष्य न बौद्धिक है, न नैतिक; न आसद और न व्यंग्यात्मक या यथार्थवादी। इसके विपरीत उसका मूल तत्त्व रस है। रस को ही आधार मानकर संस्कृत नाट्य और रंगमंच की अवधारणा की गयी है। अभिनव ने कहा है: तेन रस एव नाट्यम्। यस्य व्युत्पत्तिः फलमित्युच्यते।[1] अर्थात् रस का नाम ही नाट्य है। रस की अनुभूति ही नाट्य का फल कहलाती है।

इसके बावजूद भी संस्कृत नाटक और रंगमंच लौकिक जीवन, त्रिलोक के भावों के अनुकीर्तन और जन-जन की अवस्थानुकृति को अपना लक्ष्य बनाता रहा है। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि 'नाट्य में सातों द्वीपों वाले लोक का अनुकरण ही नियम है। नाटक की देवताओं, असुरों, राजाओं, परिवारों तथा महर्षियों के चरितों का प्रदर्शन समझना चाहिए। लोक के सुख-दुख से युक्त स्वभाव के ही विभिन्न अंगों आदि के द्वारा अभिनय किये जाने पर नाटक कहा जाता है। वेद विद्या तथा इतिहास की कथाओं की अभिनय द्वारा परिकल्पना करने वाला नाटक लोक का मनोरंजन करने वाला होगा।'[2] इस प्रकार अध्यात्म और मनोरंजन, आदर्श और यथार्थ रंगमंच के दुहरे अनुभव को व्यक्त करता है। संस्कृत रंगमंच ने इसीलिए लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दोनों परम्पराओं को स्वीकार किया था। लोकधर्मी नाट्य में लोक का शुद्ध और स्वाभाविक अनुकरण ही साध्य था। वस्तुतः नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विकास लोकधर्मी नाट्य-परम्परा से ही हुआ है। इसीलिए भरत ने नाट्य-प्रयोग के लिए अध्यात्म और वेद की अपेक्षा लोक को ही प्रमाण माना है।[3] उनके अनुसार लोकधर्मी नाट्य-परम्परा में अंगहार आदि आंगिक विलास लीलाओं का प्रयोग नहीं होता। वस्तु का यथावत् वर्णन ही उसका लक्ष्य होता है:

> स्वभाव भावोपगतं शुद्धं तु प्रकृतं तथा।
> लोकवार्ता क्रियोपेतमंगलीला विवर्जितम्॥
> स्वभावाभिनयोपेतं नाना स्त्री पुरुषाश्रयम्।
> यदीदृश्यं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु स्मृता॥[4]

दूसरी ओर नाट्यधर्मी रूढ़ि में नाटक और नाट्य प्रयोग दोनों में परिष्कृत बुद्धि और समृद्ध कल्पना का योग होता है। इस प्रकार प्राचीन इतिवृत्तों

१. अभिनव भारती, अध्याय ६ कारिका १५
२. नाट्यशास्त्र १।११६-११६
३. लोकसिद्धं भवेत् सिद्ध नाट्य लोकस्वभावजम्।
   तस्मात् नाट्य प्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते॥
४. नाट्यशास्त्र १३।७१-७२

को रमणीय रूप और नवीन कलात्मक विन्यास के साथ प्रस्तुत करना नाट्यधर्मी रूढि की विशेषता है। उसमे अभिनय भी अगहारो आदि के समावेश से अधिक रोचक होता है। जो स्वाभाविक अर्थात् मानव स्वभाव है, वह लोकधर्मी नाट्य-परम्परा कहलाई और जो विभाव अर्थात् कलात्मक और कृत्रिम है, उसे नाट्यधर्मी रूढि की संज्ञा दी गयी।[1] इस प्रकार संस्कृत नाटक और रंगमंच ने इन दो धर्मिताओं का समाहार करने का बीड़ा उठाया।

इससे स्पष्ट है कि संस्कृत रगमच भावधर्मी और वस्तुधर्मी दोनो हैं। रंगमंच का अनुभव जहाँ एक ओर अलौकिक है, वहाँ उसकी जड़े लौकिक जीवन मे ही निहित है। भरत ने स्पष्ट कहा है कि लोक-व्यवहार ही प्रमाण है। यह लोक ही उसका आधार तत्त्व है जबकि वेद और पुराण उसके पोषक है।[2] लौकिक और अलौकिक, यथार्थ और आदर्श—इस सारी स्थिति की व्याख्या नाट्यशास्त्र में वृत्तियो और प्रवृत्तियों के माध्यम से की गयी है। नाट्य-प्रयोग के लिए अपेक्षित मानसिक, शारीरिक और वाचिक व्यापार वृत्ति कहलाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न जनपदो मे प्रचलित नानावेश, भाषा, आचार और वार्ता का स्थापन करने वाली वृत्ति ही को प्रवृत्ति माना जाता है। वृत्ति शरीर का विलास विन्यास-क्रम है तो प्रवृत्ति वेश-विन्यास-क्रम। चार वृत्तियाँ और चार ही प्रवृत्तियाँ रंगमंच के यथार्थ को उजागर करने मे सहायक होती हैं, पर इसके साथ ही वे प्रतीकात्मक भी है क्योकि उनमें एक प्रकार की शैलीबद्धता दिखाई देती है।

एक ओर हमारा नाट्यशास्त्र नाना प्रकार के भावो को रंगमंचीय अनुभव का आधार मानता है; उसके लिए नाना रसो, संचारी और स्थायी भावो की योजना करता है, दूसरी ओर कई भावो—परिरंभन, आलिंगन, चुम्बन आदि का रगमंच पर प्रदर्शन वर्जित भी करार देता है। इससे कुछ लोगो को भारतीय नाटक और रंगमंच मे एक अन्तर्विरोध दिखाई दे सकता है। सचाई यह है कि उसकी अवधारणा मे यथार्थ और आदर्श, लोकधर्मिता और नाट्यधर्मिता, लौकिक और अलौकिक जैसे कई विरोधी तत्त्वो का समन्वय और सामंजस्य मिलता है। एक ओर उसे 'क्रीडनीयक' कहा गया है, दूसरी ओर परिष्कारकर्त्ता। उसमे लोक का भावानुकीर्तन है, पर वह जीवन का अनुकरण नही है। उसमे जीवन के विभिन्न क्रिया-व्यापारों और रसात्मक अनुभवों की स्वीकृति है, पर सारे क्रिया-व्यापार सामरस्य की ओर ले जाते है त्रासदी की ओर नहीं। जिस देश ने जीवन और मृत्यु के यथार्थ को खुली आँखो से देखा और समझा हो

१. नाट्यशास्त्र २१।२०३
२. वही २५।१२२-१२६

उसकी दृष्टि त्रासद कैसे हो सकती है ? सर्वत्र एक अद्भुत सन्तुलन है, एक अद्भुत काव्य दृष्टि है जो इस सन्तुलन को साधती है। नृत्य संगीत उसे एक अपूर्व अलौकिक वातावरण प्रदान करते है और प्रेक्षक को दूसरे ही कल्पना लोक में ले जाते हैं। इसीलिए हमारे देश का नाटक और रंगमंच उल्लासमय जीवन पद्धति का जीवन्त प्रतीक है। उसके पीछे साधना और आस्था की एक पूरी परम्परा और समन्वय की एक पूरी चिन्तन प्रक्रिया है।

नाट्य प्रयोग को नाट्यशास्त्र मे एक घटना के रूप मे लिया गया है। कालिदास ने इसे चाक्षुष् यज्ञ की संज्ञा दी है।[१] नाट्यशास्त्र भी इसी अवधारणा को लेकर चला है। उसमे अच्छे नाट्य प्रयोग पर बल दिया गया है।[२] किसी भी नाट्य प्रयोग के लिए अभिनेता और प्रेक्षक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। भरत ने पात्रो की भूमिका के सम्बन्ध मे अपने मौलिक विचार प्रकट किए हैं। उनके अनुसार रंगमच पर प्रयोक्ता पात्र—अभिनेता—स्व-भाव को त्यागकर पर-भाव को ग्रहण करता है और प्रयोगकाल मे तदनुरूप होने का प्रयास करता है।[३] अभिनेता की आकृति-प्रकृति के सम्बन्ध मे लिखते हुए उन्होने वय, वेश, अंगरचना, भाषा आदि की अनुरूपता का विधान किया है और इस प्रकार अनुरूपा प्रकृति का समर्थन किया है। भरत विरूपा प्रकृति के विरुद्ध थे जिसमे प्रयोज्य पात्र को प्रस्तुत करने के लिए अभिनेता विपरीत भूमिका को धारण करता है। किन्तु इसके साथ ही उन्हे जतु, काष्ठ, चर्म आदि के बने पशु, बहुबाहुमुख या श्वापदमुख आदि के उपयोग मे कोई आपत्ति नहीं थी।[४] इस प्रकार रूपानुरूपा प्रकृति की भूमिकाओं में आहार्य के आश्रय का उन्होंने समर्थन किया है। स्त्री द्वारा पुरुष की और पुरुष द्वारा स्त्री की विपरीत भूमिकाएँ भी नाट्य प्रयोग मे चलती थी, इसका स्पष्ट आभास कई नाटको की

१. मालविकाग्निमित्र १।१।५
२. नाट्यशास्त्र १६।५१-५३
३ आत्मरूपमवच्छाद्य वर्णकै भूषणैरपि ।
   यादृश यस्य यद्रूप प्रकृत्या तस्य तादृशम् ॥
   वयो देशानुरूपेण प्रकृते नाट्य कर्मणि ।
   यथाजन्तु स्वभावं हि परित्यज्यान्य देहिकम् ॥
   परभाव: प्रकुरुते पर देह समाश्रित: ।
   एव बुध: पर भाव सोऽस्मीति मनसास्मरन्॥
   —नाट्यशास्त्र २६।२-८
४. वही, २६।२-६

प्रस्तावनाओं से मिलता है। यह अस्वाभाविक अवस्था है, इसलिए इसे प्रयत्न-साध्य माना गया है।

नाट्यशास्त्र मे अभिनय की जो चर्चा की गयी है, उससे स्पष्ट है कि यह एक सुनिर्धारित व्यवसाय था और कठोर अनुशासन और प्रशिक्षण पर निर्भर था। भावाभिव्यक्ति के लिए सिर, नाक, मुँह, कपोल, चिबुक, आँख, हाथ आदि की विभिन्न मुद्राओं का विवेचन भरत ने विस्तार से किया है। इसी प्रकार गति-प्रचार का विवेचन एक पूरे अध्याय में हुआ है। बैठने, लेटने आदि की स्थितियों पर भी भरत का पूरा ध्यान रहा है। संस्कृत रंगमंच पर आंगिक अभिनय के साथ-साथ सात्विक, वाचिक और आहार्य अभिनय की भी चर्चा की गयी है। आंगिक अभिनय का क्षेत्र शरीर को माना गया है; वाचिक अभिनय का वाणी को। सात्विक अभिनय का आधार भाव माने गये हैं। आहार्य के अन्तर्गत वेशभूषा आदि आती है जो अभिनय को पूर्णता देती है। इनके अतिरिक्त भरत ने चित्राभिनय का भी विवेचन किया है।

संस्कृत नाटकों में प्राय: नदी, वर्षा, पर्वत, यान, संध्या, रात्रि, सूर्योदय, आखेट आदि के विभिन्न दृश्य आते हैं। यथार्थवादी रंगमंच की तरह संस्कृत रंगमच इन सब चीजों की योजना मंच पर करने के बजाय चित्राभिनय से काम लेता है। संस्कृत रंगमंच पर प्राय: दृश्य की स्थापना संवादों से की जाती थी, पर कभी-कभी संवाद के साथ क्रिया-व्यापार के अभिनय द्वारा चित्रात्मक प्रभाव भी उत्पन्न किया जाता था। अभिज्ञान शाकुंतलम् मे मालिनी नदी के तट पर स्थित कण्वाश्रम की ओर रथ में बैठा चला आ रहा दुष्यंत इसका एक सुन्दर उदाहरण है। पहाड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि पर रथ हिचकोले खा रहा है। आगे-आगे मृग भाग रहा है और पीछे-पीछे रथ पर बैठा दुष्यंत आखेट की मुद्रा में चला आ रहा है। इस सारे दृश्य की प्रस्तुति का आधार चित्राभिनय ही कहा जा सकता है। मंच पर न पर्वत की प्रस्तुति आवश्यक है, न नदी की और न भागते हुए मृगशावक और न दुष्यन्त के रथ की। वरन् प्रेक्षक को सारी वस्तु-स्थिति और क्रिया-व्यापार का बोध कराने मात्र की आवश्यकता है। इसकी पूर्ति के लिए चित्राभिनय का प्रयोग सामान्य सी बात थी। कालिदास, भवभूति, शूद्रक के नाटकों मे इस परंपरा का विशद अनुसरण मिलता है।[1] मृच्छकटिक मे वर्षा, मेघ-गर्जन तथा चंद्रोदय; शाकुंतलम् और स्वप्नवासवदत्तम् मे ग्रीष्म और शरद् ऋतु के दृश्य आते हैं। इसी प्रकार हर्ष की रत्नावली मे वानर और शाकुंतलम् में मृग शावक और सिंह शावक सम्बन्धी प्रसंग आते हैं। संस्कृत मंच पर इन प्राकृतिक वस्तुओं और दृश्यों को विभिन्न मुद्राओं से प्रकट किया जाता था। उदाहरण के लिए प्रभात,

१. विस्तार के लिए देखिए : वेल्स लिखित द क्लासिकल ड्रामा ऑव इंडिया, पृ० ६६-११४

रात्रि, संध्या, गगन, मेघ, ग्रह-नक्षत्र, जल आदि का अभिनय पार्श्व मंस्थित स्वस्तिक हाथों को उत्तान कर और सिर को ऊपर का उठाकर देखने से होता था। दृश्य या वस्तु के प्रति मन की प्रतिक्रिया से भी आभास देने का प्रायः प्रयास होता था। स्पर्श तथा रोमांच से चंद्रमा की धवल ज्योत्स्ना, सुखद वायु और गंध का; वस्त्रावगुंठन द्वारा सूर्य, धूल या धूम का; ऊपर की ओर देखने से मध्याह्न के सूर्य का; विस्मयपूर्ण दृष्टि से उदय और अस्त का अभिनय होता था।[1] इसी प्रकार मेघ-गर्जन या बिजली की चौंध का अभिनय अस्त अंगों, विशेषत: आँखों के निमेष से होता था। सिंह, सर्प, मृग, वानर आदि जीव प्रतीक विधि से ही मंच पर प्रस्तुत किए जाते थे। इसी प्रकार प्रस्वेद से ग्रीष्म का, फूलों से वसन्त, स्पर्श से ग्रीष्म का अभिनय सम्भव बनाया जाता था।

इस प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं और दृश्यों के लिए नाट्यशास्त्र में प्रतीक विधि का विधान हुआ है। इससे स्पष्ट है संस्कृत मंच पर अभिनय एक विशिष्ट और शैलीबद्ध शिल्प में ढल गया था। आकाशभाषित, आत्मगत, अपवारित और जनांतिक की रूढ़ियाँ भी इसी अभिनय कौशल की अंग थीं। अन्य पात्र की उपस्थिति के बिना ही उत्तर-प्रत्युत्तर शैली में संवादों की योजना करके प्रायः पात्र की स्थिति का संकेत उभारने मे आकाशभाषित अभिनय की इसी प्रतीकात्मक प्रणाली का उपयोग करता है। जनान्तिक और अपवारित जैसे सीमित श्राव्य संवादों के स्वरूप का आभास अभिनय मुद्रा के द्वारा ही दिया जाता है। इसमे त्रिपताका हस्ताभिनय शैली का प्रयोग किया जाता है।

अभिनय अनेक विधि-विधानों पर आधारित था; पर उसका लक्ष्य केवल एक ही था—भावाभिव्यक्ति। मूलतः संस्कृत रंगमंच काव्य रंगमंच था। इसलिए भावानुकीर्तन उसका मुख्य कार्य था। अभिनय के द्वारा भावों को उद्बुद्ध और रूपायित कर रसाभिमुख करना अभिनेता की सबसे बड़ी सिद्धि मानी जाती थी। वस्तुतः भरत की भाव, विभाव, स्थायी भाव और रस-निष्पत्ति सम्बन्धी सारी दृष्टि नाट्य अर्थात् अभिनय पर आश्रित थी (इस सीमा तक कि अभिनव ने नाट्य को ही रस कहा है)। भरत के शब्दों मे 'भाव अनेक प्रकार के अभिनयों को भावित करते हैं—जिस प्रकार नाना प्रकार के पदार्थों से व्यंजनों की भावना (संस्कार) होती है, उसी प्रकार भाव अभिनयों के साथ जुड़कर रसों की भावना (निष्पत्ति) करते हैं। भावों के बिना रस नहीं रहता और रस के बिना भाव नहीं होते। अभिनय के द्वारा एक-दूसरे के आश्रय से इनकी सिद्धि होती है।'[2] अगले अध्याय में भावों आदि का विवरण भी अभिनय

१ नाट्यशास्त्र २५।३-१०
२ नाट्यशास्त्र ६।२४-३७

के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। 'भरत ने रस के प्रसंग में, जिसे वस्तुतः भावाभिनय का ही प्रसग मानना चाहिए, आलम्बन, उद्दीपन, विभावादि के साथ अनुभावों का उल्लेख किया है। इनको आलम्बन, उद्दीपन आदि कारणों से उत्पन्न भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले कार्य माना गया है। भाव-प्रदर्शन में अनुभावों का क्षेत्र तो इतना विस्तृत है कि इसके अंतर्गत कायिक तथा वाचिक अभिनय तो आता ही है, मानसिक हर्ष-विषाद, आहार्य सम्बन्धी वेश-रचना तथा सात्विक अनुभाव आदि सब आ जाते है।'[1] वस्तुतः अभिनय में अनुभावों की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

भरत ने ४९ भावों की अवधारणा की है। भावों की सहज अभिव्यक्ति ही सफल अभिनय की कुंजी है। नाट्यशास्त्र मे सात्त्विक भावों को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि उनको लेकर अभिनय का एक अलग ही प्रकार परिकल्पित हुआ है और फिर स्पष्ट शब्दों में घोषणा की गयी है कि जिस अभिनय मे सत्त्व की अतिरिक्तता होती है, वही उत्तम होता है; जिसमें अन्य की तुलना में सत्व समानता की मात्रा मे होता है वह मध्यम; और जिस अभिनय मे सत्व हो ही नहीं, वह अधम कोटि का अभिनय होता है।[2] सत्त्व मनःसंभूत होने पर भी उपचार की दृष्टि से दैहिक होता है। जब अनुकर्त्ता की चित्तवृत्ति अनुकार्य की भावना से आच्छादित होकर संवेदन की स्थिति मे देह में व्याप्त होती है तो वह सत्व कहलाती है। रोमांच, स्वेद, स्तंभ, वैवर्ण्य, स्वर भेद, वेपथु, अश्रु और प्रलय उसी के भेद हैं जिनके अंतर्गत विपुल भाव-सामग्री का समावेश हो जाता है। इन्ही के द्वारा प्रेक्षक रस की प्रतीति करता है। भरत ने स्पष्टतः लिखा है : 'नाट्य प्रयोग करने वालों को सात्विक भावो का समावेश करना चाहिए। स्थायी भाव का सात्विक भावों की अतिशयता के साथ प्रयोग करना चाहिए और संचारियों का आकार मात्र से इस प्रकार अभिनय करना चाहिए जिससे स्थायी की प्रधानता बनी रहे। नाट्य प्रयोग मे कुशल जनों को अनेक भावों तथा अर्थों से सम्पन्न स्थायी, सात्विक तथा व्यभिचारी भावों को माला में पिरोये हुए पुष्पों की तरह [illegible] रूप मे आयोजित करना चाहिए।'[3]

१. डा० रघुवंश : नाट्य कला, पृ० १०५।

२. तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु सत्वे नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
सत्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते।
समसत्वो भवेन्मध्यो सत्वहीनोऽधम स्मृतः॥—नाट्यशास्त्र २६।२

३. येत्वेते सात्विका भावा नानाभिनययोजिता।
रसेष्वेतेषु सर्वेषु ते ज्ञेया नाट्य प्रयोक्तृभि ॥११८॥ अ० २२
ये त्वते सात्विका भावा नानाभिनय योजिताः।
रसेष्वेतेषु सर्वेषु ते ज्ञेया नाट्य कोविदै. ॥१२४॥ अ० २२

अभिनय की इस सारी भाव और रस-योजना का लक्ष्य प्रेक्षक है, इस बात को संस्कृत रंगमंच कहीं भुला नहीं पाया है। भरत ने नाट्यशास्त्र के सत्ताईसवें अध्याय में प्रेक्षक की अर्हताएं प्रस्तुत की है। प्रेक्षक का परितोष ही नाट्य प्रयोग का वास्तविक लक्ष्य होने के कारण उसे एक नाटकीय सिद्धि माना जाता था जिसे वह स्मित, हास्य, साधुवाद आदि के द्वारा व्यक्त करता था। किन्तु भरत प्रेक्षकों की गुण-संपदा के प्रति पूरी तरह आश्वस्त नहीं थे। प्रेक्षकों की भिन्न-भिन्न रुचियों का उन्हें ज्ञान था और उनकी कई कोटियों का भी पता था।[1] वे यह भी जानते थे उनके द्वारा निर्धारित सभी गुण किसी एक प्रेक्षक में मिलने सम्भव नहीं; फिर भी नाट्य प्रयोग की सफलता को आंकने के लिए वे एक ऐसे व्यक्ति का महत्त्व अवश्य समझते थे जो 'उज्ज्वल चरित्र, कुलीन, शांत, विद्वान्, यशस्वी, निष्पक्ष, प्रौढ, नाट्यकला मर्मज्ञ, वासना वृत्ति से अप्रभावित, तत्त्वदर्शी, रस-भाव और अभिनय का ज्ञाता और शास्त्रज्ञ' हो। ऐसा कुशल प्रेक्षक प्राश्निक कहलाता था। संभवतः किसी भी नाट्य प्रयोग की सफलता को आंकने में उसी का हाथ होता था। इस प्रवृत्ति का संस्कृत रंगमंच पर कम प्रभाव नहीं पड़ा। कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम् और मालविकाग्निमित्र तथा भवभूति के मालती माधव की प्रस्तावना में इस बात का स्पष्ट आभास मिलता है कि उनको विद्वत् परिषद् के सामने खेला गया था। इससे संस्कृत नाट्य प्रयोग की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है।

भारतीय रंगमंच पर दृश्यविधान की क्या स्थिति थी, इस पर पर्याप्त शोध की आवश्यकता है। ग्रीक और रोमन रंगमंच पर दृश्य विधान का अभाव था। भारतीय रंगमंच पर भी दृश्य विधान उस कोटि का नहीं था, जिस अर्थ में हम आज इस शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः भारतीय रंग दृष्टि कभी भी अनुकरणमूलक नहीं रही है और जैसा कि अभिनय की पद्धति से स्पष्ट है, दृश्य का स्वरूप संवाद और अभिनय से उजागर करने की हमारे यहां एक समृद्ध परंपरा थी। इसलिए आहार्य के नाम पर मंच पर जो कुछ भी आयोजन किया जाता था, उसमें प्रतीकात्मक और कलात्मक अभिव्यक्ति ही मुख्य थी, यथार्थ का अनुकरण कहीं भी न था।

भारतीय रंगमंच पर संभवतः कोई बाहरी पर्दा नहीं होता था[2]; किन्तु

१. नाट्यशास्त्र २७।५०-५३

२. कुछ विद्वान् यहाँ भी यवनिका का होना मानते हैं। देखिए—सुरेन्द्रनाथ दीक्षित : भरत और भारतीय नाट्य कला, पृ० १०८

रंगपीठ और रंगशीर्ष के बीच पर्दा होता था। संस्कृत नाटकों मे यवनिका, पटी, तिरस्करणी, प्रतिशिरा आदि कई शब्दों का प्रयोग हुआ है। कुछ विद्वानों का विचार है कि रंगमंच पर कई स्थानों पर पर्दे का प्रयोग होता था जैसे रंगपीठ और रंगशीर्ष के बीच, रंगशीर्ष और नेपथ्य के बीच। इसमे कोई संदेह नहीं कि प्राचीन संस्कृत रंगमंच पर रंग-विभाजन की जो पद्धति थी उसमे विभिन्न पर्दों की उपयोगिता स्पष्ट सामने आती है। रंगमंच इसके अतिरिक्त भी कई कक्ष्याओं मे विभक्त होता था और उन पर संभवतः किसी प्रकार का दृश्य विधान होता था। इस दृश्य विधान का एक स्वरूप तो यह था कि रंगशीर्ष में वैदूर्य, स्फटिक एवं सोने का काम किया गया हो, स्तंभों पर नक्काशी हो या पशु-पक्षियों के चित्र अंकित हों। इसी प्रकार भरत ने यह भी कहा है कि भित्तियों पर नर-नारियों की आत्मभोगजन्य छवियाँ अंकित हों।[1] इस सब का उद्देश्य नाटकीय अर्थ को उजागर करने की अपेक्षा रंगमंच की सज्जा करना मात्र प्रतीत होता है। किन्तु नाट्य के इतिवृत्त के आधार पर भी आहार्य प्रणाली से दृश्य विधान होता था।

आहार्य के अन्तर्गत प्राचीन भारतीय रंगमंच पर पुस्त, अलंकार, अंगरचना तथा संजीव विधियों का प्रयोग होता था। पुस्त के योग से शैल, यान, विमान, रथ, हाथी आदि अनेक लौकिक पदार्थों, वस्तुओं आदि की रचना की जाती थी। कुछ चीजें परस्पर जोड़कर या बाँधकर बनाई जाती थी, जैसे दुर्ग, वाहन, विमान, रथ आदि। इस विधि को संधिम कहा जाता था। दूसरी विधि वेष्टिम कहलाती थी जिसमे वस्त्र आदि को लपेटकर कई वस्तुएँ तैयार की जाती थी। शैल, यान, विमान, नाग आदि इसी विधि से बनाये जाते थे। पुस्त विधि का एक तीसरा रूप व्याजिम कहलाता था जिनमें यांत्रिक साधनों का प्रयोग किया जाता था।

अलंकार आहार्य का वह अंग था जिसमे माल्य, आभरण और वेश-विन्यास मुख्य होता था। नाट्यशास्त्र (अध्याय २१) मे पुरुष और स्त्रियों के आभूषणों के साथ-साथ सिर, ललाट, कान, नाक, कठ, बाहुमूल, श्रोणी आदि विभिन्न अंग-प्रत्यंगों के आभूषणों की चर्चा हुई है। अंग रचना के अन्तर्गत अंगों

१. रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे वज्रं विचक्षणैः।
वैदूर्यं दक्षिणे पार्श्वे स्फटिकं पश्चिमे तथा ॥८०॥ अ० २
प्रवालमुत्तरे चैव मध्ये तु कनकं भवेत्।
एव रगशिर कृत्वा दारुकर्म प्रयोजयेत् ॥८१॥ अध्याय २
चित्रकर्मणि चालेख्या पुरुषास्त्रीजनास्तथा।
लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरित चात्मभोगजम् ॥
नाट्यशास्त्र २।८४क, ८५क

की रचना और केश-विन्यास का वर्णन किया गया है। अंग रचना में रंग का विशेष महत्त्व था और विभिन्न जाति के लोगों के लिए विभिन्न रंग निश्चित थे। वेषभूषा भी इसी का अंग थी। सच पूछें तो 'अलंकार' कोटि के आहार्य का सीधा सम्बन्ध दृश्य विधान से नहीं है। किन्तु अभिनेता स्वयं एक चलता-फिरता दृश्य है। इस दृष्टि से एकदम उससे इसके दूर के संबंध को नकारा भी नहीं जा सकता।

संजीव को दृश्य सज्जा का महत्त्वपूर्ण अंग कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत नाट्यशास्त्र मे अपद, द्विपद और चतुष्पद जीवों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की विधि पर विचार हुआ है। भरत ने सर्प, व्याघ्र, गौ, हिरण, पक्षी आदि की कृत्रिम रूप-रचना पर बल दिया है। संस्कृत नाटक मे पशु-पक्षियों का समावेश एक सामान्य-सी बात रही है। फलतः उन्हें मंच पर प्रस्तुत करने के लिए संजीव विधि अपनाई जाती थी। प्रायः इसके लिए 'भरत ने पटी या घटी (सांचा) की परिकल्पना की है। यह एक प्रकार का आच्छादन या आवरण-सा होता है जिसे आवश्यकतानुसार विशेष प्राणियों की रूप-रचना के लिए पात्र अपने सिर से पांव तक ढककर अपने प्रकृत रूप को अन्तर्हित कर देते हैं और पटी या घटी मे अंकित रूप ही प्रेक्षकों के समक्ष रहता है। घटी की रचना बेल का गुद्दा, लस्सा, धान का भूसा, भस्म, वस्त्र और छाल के माध्यम से होती थी।'[1]

इसी के साथ ही इस बात के भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि संस्कृत मंच पर कई प्रकार की नाट्य सामग्री का प्रयोग होता था। भरत ने रंगमच पर प्रयुक्त होने वाले आसनों का उल्लेख किया है। ब्राह्मण, राजा तथा देवी-देवताओं के लिए सिंहासन, मंत्रियों के लिए बेंत के आसन, युवराज और सेनापतियों के लिए मुंडासन, और अन्य राजपुरुषों के लिए कुथा आसन का प्रयोग विधि-विहित माना जाता था। इसी प्रकार रानी, रखैल, ब्राह्मणी, साध्वी, गुरुपत्नी आदि के लिए भी आसन निर्धारित थे। यज्ञ, हवन, पूजा आदि में भी विभिन्न आसनों का प्रयोग होता था। भरत ने मंच पर प्रयुक्त होने वाले अस्त्र-शस्त्रों का भी उल्लेख किया है जिन्हें घास, बांस, लाख, चमडा या कपड़े से बनाया जाता था।

भारतीय रंगमंच के दृश्य विधान में कक्ष्या विभाग का विशेष महत्त्व था। यह एक प्रकार का प्रतीकात्मक नाट्य विधान था जो मूलतः प्रेक्षक की कल्पना पर आधारित था। इस विधि के अनुसार रंगमंच को काल्पनिक रूप से कई भागों मे विभाजित कर लिया जाता था। इस विभाजन के अनुसार ही मंच के विभिन्न भागों मे गृह, नगर, वन, उपवन, प्रासाद, यान, धरती, आकाश आदि की कल्पना

१. डॉ॰ सुरेन्द्रनाथ दीक्षित : भरत और भारतीय नाट्य कला, पृ॰ ३६१

प्रस्तुत की जाती थी। प्रायः मंच की परिक्रमा करके कक्ष्या का आभास दिया जाता था।[1] कक्ष्याएँ देश अथवा स्थान का ही नहीं वरन् वस्तुओं और पदार्थों का भी द्योतन करती थीं।[2] इसी के माध्यम से दूरी का भी आभास दिलाया जाता था। चरण विन्यास की अधिक संख्या अधिक दूरी को और कम संख्या कम दूरी को प्रकट करती थी।[3] कक्ष्या विभाग की इस नाट्यधर्मी रूढ़ि का संस्कृत नाटकों में सफल प्रयोग हुआ है। स्वप्नवासवदत्तम्, मृच्छकटिकम् और शाकुंतलम् में इसके कई उदाहरण मिलते हैं। मृच्छकटिक इसका सबसे सुन्दर उदाहरण है। इस संदर्भ में प्रथम अंक का वह दृश्य उल्लेखनीय है जिसमे विट् और शकार वसन्त सेना का पीछा सारे राजपथ पर बहुत दूर तक करते जाते हैं। इस दृश्य मे इतना स्थल-विस्तार है कि रंगमंच की स्थल-सीमा में इसका अभिनय कक्ष्या विधि से ही संभव है। इसी प्रकार स्वप्नवासवदत्तम् में एक ही दृश्य में एक ओर उदयन और विदूषक और दूसरी ओर वासवदत्ता, पद्मावती और उनकी सखियाँ बातें करते हुए उपस्थित हैं। इस प्रकार रंगमंच दो कक्ष्याओं मे विभाजित दिखाई देता है। यही बात मृच्छकटिकम् मे न्यायाधिकरण वाले दृश्य से भी प्रकट होती है। उसमे मंच के एक भाग पर न्यायाधिकरण और दूसरे में चारुदत्त के घर की स्थिति दिखाई गयी है।

कक्ष्या विभाग की यह रंग-परम्परा भारतीय रंगमंच की अपूर्व देन है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय रगमंच का दृश्य विधान नाट्यधर्मिता पर आधारित था। इसका एक कारण यह भी था कि रंगमंच पर सभी प्रकार के दृश्यों को प्रस्तुत करना संभव न था; इसलिए भी प्रेक्षक की कल्पना को जाग्रत कर उसे दृश्य का बोध मात्र कराने की जरूरत थी। किंतु यह विधान केवल विवशता पर आधारित नही है। वास्तव में संस्कृत रंगमंच कलात्मक रंगमंच है जिसमें यथातथ्य को कभी भी प्रश्रय नहीं दिया जाता रहा है।

अभिव्यक्ति के एक साधन के रूप में भाषा या सम्वाद भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। रंगमंच पर अभिव्यक्ति के और भी साधन होते हैं; भाषा या सम्वाद क्रिया-व्यापार की भौतिक और पात्र की मानसिक स्थिति का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं। भरत ने अभिव्यक्ति के इस स्वरूप की व्याख्या वाचिक अभिनय के अन्तर्गत की है। अभिनय भाषा पर निर्भर करता है। इसलिए उन्होंने

१. नाट्यशास्त्र १३।१५
२. वही १३।३-८
३. वही १३।१२

संज्ञा, क्रिया, निपात, उपसर्ग, तद्धित, समास, संधि, विभक्ति श्रादि का व्याकरणिक परिचय दिया है। इसी के साथ छन्दों श्रौर श्रलंकारों की बात भी कही गयी है। कुल मिलाकर यह वर्णन पाठ्य से श्रधिक सम्बद्ध है, श्रभिनय से नहीं। फिर भी भरत के विवेचन से रंगमंच सम्बन्धी भाषिक सूत्र निकाले जा सकते हैं। इनमें से एक व्यावहारिक बात यह भी है कि नाट्य में प्रयुक्त विविध भाषाश्रों, सम्बोधनों, वृत्तियों पात्रों के नामकरण श्रादि विषयों के विवेचन में रंग-सन्दर्भों की दृष्टि से पर्याप्त सार्थकता दिखाई देती है।

संस्कृत नाटकों में पद्य भाग काफी रहता था। इसलिए उसकी प्रस्तुति की समस्या रंगमंच पर श्राती रही होगी। इसी दृष्टि से भरत ने ध्वनियों श्रौर छन्दों की चर्चा की है। नाटक को काव्य का ही श्रंग माना जाता था। फलतः नाटक की भाषा का काव्यात्मक होना स्वाभाविक था। फिर भी संस्कृत मंच की भाषा कोई जड़ या स्थिर वस्तु न थी। श्रतिभाषा, श्रार्य भाषा, जातिभाषा, ज्यात्यन्तरी भाषा के रूप में जो विभाजन किया गया है, वह रंगमंच श्रौर नाट्य लेखन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। उच्च वर्ग के पात्र संस्कृत श्रौर निम्न-वर्ग के पात्र प्राकृत बोलते थे। श्रलग-श्रलग कोटि के पात्रों के लिए श्रलग-श्रलग प्राकृत बोलने का विधान था। उदाहरण के लिए मागधी का प्रयोग श्रन्तःपुर के परिचारक करते थे। दास-दासी श्रर्द्धमागधी बोलते थे; विदूषक प्राच्य बोलता था; श्रवन्तिका का व्यवहार खल पात्र करते थे। नायिकाश्रों के लिए शौरसेनी, योद्धाश्रों के लिए दक्षिणात्या तथा शावरों श्रौर शकों के लिए शकार बोली निर्धारित थी।[1] इस प्रकार की व्यवस्था के पीछे निश्चयतः एक नाट्य दृष्टि थी। इसी प्रकार बलाघात, स्वर-लय, काकु, स्वर-सामंजस्य श्रादि का महत्त्व भी प्रतिपादित होता है। भरत ने उच्चारण के सम्बन्ध में इसीलिए कुछ नियमों की चर्चा की है। इस सन्दर्भ में उन्होंने सात स्वरों, तीन स्थानों, चार वर्णों, दो काकु श्रौर छः श्रलंकारों का वर्णन किया है। ध्वनि के उच्चारण के लिए स्थानों—उर, कंठ श्रौर सिर—की महत्ता बताई गयी है। इसी प्रकार छः श्रलंकारों के श्रन्तर्गत उच्च, दीप्त, मंद्र, नीच, द्रुत श्रौर विलम्बित स्वर-सामंजस्य गिनाए गये हैं। विभिन्न स्वर-तानों का प्रयोग विभिन्न भावात्मक स्थितियों में होता है। भरत ने इनका जो विवेचन (श्रध्याय १९ में) किया है, उससे रंगमंच पर सम्वादों की श्रदायगी का व्यावहारिक पक्ष सामने श्राता है। भरत ने वाक्य-विन्यास के जो छह श्रंग गिनाये हैं वे भी श्रभिनय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। विच्छेद, श्रर्पण, श्रनुबन्ध, विसर्ग, दीपन, प्रशमन—सभी संवादों की उच्चारण-विधि श्रौर स्वर-ताल से सम्बन्ध रखते हैं। भरत का

१. नाट्यशास्त्र १७।४६-५५

वाचिक अभिनय का सारा विवेचन बहुत सूक्ष्म है। वह रंगमंच पर भाषा के व्यावहारिक पक्ष को उजागर करता है।

इस प्रकार संस्कृत रंगमंच की सारी परिकल्पना काव्यात्मक है। इसीलिए उसका बल रस निष्पत्ति पर दिखाई देता है। आज पश्चिम में यथार्थवादी रंगमंच के प्रति एक तीव्र प्रतिकार का भाव दिखाई देता है। पश्चिम के रंगमंच ने बहुत कुछ एशियाई रंगमंच से सीखने की कोशिश की है। अब प्रश्न यह उठता है कि हमारा यह प्राचीन भारतीय रंगमंच क्या आज की परिस्थितियों में कुछ अर्थवान् सिद्ध होता है ?

आज देश के सामने अपने राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना का प्रश्न है। संस्कृत नाट्य-परम्परा मृतप्राय हो चुकी है, पर उसके कई तत्त्व जीवन्त हैं। अतः उसकी पुनर्स्थापना बहुत सम्भव है। इसके लिए संस्कृत रंगमंच के तत्त्वों को फिर से समझना जरूरी है। नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ इसमें बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। किन्तु सबसे अधिक उपयोगी स्वयं संस्कृत नाटक ही हो सकते हैं। संस्कृत रंगमंच की पुनर्रचना करते हुए कुछ बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संस्कृत नाटकों का आंगिक अभिनय लयबद्ध था। उसमे हस्त-मुद्राओं का भी विशेष रूप से प्रयोग होता था। वाचिक अभिनय के लिए प्रणाली निश्चित थी। कुल मिलाकर संस्कृत रंगमंच अभिनेता का रंगमंच था। दृश्य-सज्जा आदि की सूचना अभिनय से ही दी जाती थी। नाट्य-व्यापार में प्रयुक्त रथ, यान, पर्वत, पशु-पक्षी आदि की सामग्री को आहार्य-विधि से प्रस्तुत किया जाता था; पर अधिकांश उपकरणों, देश और काल को प्रतीकात्मक अभिनटन से अभिव्यक्त किया जाता था। पात्रों की रूप और वस्त्र-सज्जा का मूल आधार रंग और रस होता था। संस्कृत नाटकों मे अन्विति की बाधा नहीं थी। इस एक ही अंक में अनेक दृश्य बदलते थे और अंकों की संख्या भी कम नहीं होती थी। सारे दृश्यों को अविराम दिखाने के लिए यथार्थ-वादी रंग-सज्जा का आश्रय लिये बिना ही भारतीय रंगमंच पर ऐसे दृश्यों को कक्ष्या विभाग की विधि से दिखाया जाता था। इसके माध्यम से एक ही अभि-नय क्षेत्र में अनेक स्थलो को दिखाया जा सकता था। दृश्य की सारी प्रतीति सम्वाद और अभिनटन से की जाती थी।

इस प्रकार संस्कृत रंगमंच सत्याभास-विरोधी तथा कल्पना पर आश्रित रंगमंच था। रंगमंच के प्रति यह धारणा पूर्णतः कलात्मक है और आज की कला प्रवृत्तियों के अनुकूल है। इसलिए संस्कृत रंगमंच को पुनर्जीवित करने में युग के कला-बोध को लेकर कोई समस्या नहीं है। इस सन्दर्भ में शांता गांधी के ये शब्द

विचारणीय हैं : 'यद्यपि संस्कृत नाटक के प्रदर्शन की कोई परम्परा नहीं बन सकी है, फिर भी उसकी पुनर्स्थापना के लिए पर्याप्त आधार मौजूद है। मुख्य बात यह है कि संस्कृत नाटक 'सम्पूर्ण रंगमंच' है और वह अपना 'सम्पूर्ण' प्रभाव दर्शक वर्ग को सम्प्रेषित करने के लिए अपने अभिनेताओं से विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की अपेक्षा रखता है। यद्यपि संस्कृत नाटक के अभिनेता का शास्त्रीय नर्तक होना अनिवार्य नहीं है, पर आवश्यक सौन्दर्य, गति की नमनीयता और लय-बोध प्राप्त करने के लिए नृत्य के मूलभूत अनुशासन का अनुभव उसके लिए आवश्यक है। इसी प्रकार उसका शास्त्रीय गायक होना अनिवार्य नहीं, पर उसे शास्त्रीय संगीत का कुछ ज्ञान अवश्य होना चाहिए। साथ ही उसे मुद्राओं की भाषा में पारंगत होना चाहिए जिसके आधार पर वह अभिनटन के अभ्यास और प्रयोग द्वारा भाव-भंगिमाओं की अपनी निजी रूपरेखा विकसित कर सके। उसे कंठ स्वर और भाषण के लिए ऐसा विशेष प्रशिक्षण मिलना चाहिए जिसमें सही उच्चारण और लहजे पर विशेष बल हो। इस सब का यह अर्थ है कि संस्कृत नाटक के प्रदर्शन के लिए बीस अभिनेताओं का एक व्यवसायी दल चाहिए जो एक वर्ष तक प्रशिक्षण प्राप्त करे। तभी वह सार्वजनिक प्रदर्शन के योग्य हो सकता है। आशा करनी चाहिए कि निकट भविष्य में कोई राष्ट्रीय संस्था ऐसे प्रयास के लिए साधन उपलब्ध करेगी।'[1]

पश्चिम की प्रेरणा से रंगमंच को यथार्थ के मोह में अनाटकीय होने से आज संस्कृत रंगमंच ही बचा सकता है। रंगमंच को सिनेमा से विलग अपने निजी शिल्प और रूप की स्थापना करनी होगी। इसके लिए प्राचीन भारतीय रंगमंच यथेष्ट आधारभूमि उपलब्ध करा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पश्चिम का आधुनिक रंगमंच प्राचीन रंगमंच के स्वस्थ, जीवन्त अनुभव से आज अपने को वंचित कर चुका है और रंगमंच आज 'मूर्खों, विक्षिप्तों, सिरफिरों, वैयाकरणों, अकवियों और पंसारियों के हाथ में पड़ गया है।'[2] इसीलिए आज का पाश्चात्य रंगमंच आत्मपरकता का दास हो गया है जो किसी कलात्मक अनुभव को देने में असमर्थ है। रेनहार्ट, कॉप्यू, बरॉल्ट आदि रंगकर्मियों ने प्राचीन रंगमंच से प्रेरणा लेकर महान् प्रयोग किए थे। वे महान् एशियाई रंग-परम्पराओं से अवगत थे। इसी प्रकार क्लॉडेल, ब्रेख्त, जेने आदि प्राच्य रंगमंच की उपलब्धियों के प्रति आश्वस्त थे।[3]

१ शांता गांधी का लेख, नटरंग अंक १, पृ० ३२
२ 'परफॉर्मिंग आर्टस इन एशिया' पुस्तक में पृष्ठ ३७ पर उद्धृत आर्तो की उक्ति।
३. वही, पृ० ३७

कुछ ज्वलंत प्रश्न

०

रंगमंच : किसका और किसके लिए ?

१०

आज एक स्वर जो बड़ी तीव्रता से उभर रहा है, उससे लगता है कि नाटककार अपने को रंगमंच का सबसे पहला दावेदार मानता है। इसे उसकी प्रतिक्रिया ही समझना चाहिए क्योंकि उसकी जिद इस वस्तुस्थिति का परिणाम है कि रंगमंच उसके हाथ से निकल गया है। नाटककार एक दुहरी नैतिकता लेकर चलता दिखाई देता है। एक ओर वह विद्यमान रंगमंच को सामर्थ्यहीन कहकर उससे छुआछूत बरतता है, दूसरी ओर वह किसी रंगमंच को अपने ऊपर हावी नही होने देना चाहता। इससे नाटककार और रंगकर्मियों के बीच अविश्वास का भाव दिखाई देता है; किन्तु इसकी सीमा यहीं तक नहीं है—नाटककार रंगमंच ही नहीं प्रेक्षकों के प्रति भी आश्वस्त नही रहा है—उसकी भ्रष्ट रुचि सदा से उसके लिए शिकायत का विषय रही है।

यहाँ सबसे पहले शिकायतों से घिरे इसी नाटककार नामक जीव की चर्चा करना ही बेहतर होगा। सबसे पहले यह जिज्ञासा मन मे उठती है कि नाटककार आखिर किसके लिए लिखता जा रहा है ?—अपने लिए, प्रेक्षक के लिए या किसी और के लिए ? यदि अपने लिए तो फिर कहना ही क्या ? यदि प्रेक्षक के लिए तो कौन-से प्रेक्षक के लिए ?

नाटककार को शिकायत रहती है कि प्रेक्षक इतना गया-गुजरा है कि उसकी रचना के प्रति वह जागरूक ही नहीं। उसकी ओर से उसे एक सन्नाटा या उपेक्षा ही हाथ लगती है। किन्तु सच पूछें तो शिकायत सिर्फ प्रेक्षक की ओर से ही होनी चाहिए। एक अजीब बात यह है कि आज का नाटककार प्रेक्षक को स्वीकार कर चलता ही नही। जिस भी युग में नाटक और रंगमंच ने विलक्षण लोकप्रियता प्राप्त की, उसमें प्रेक्षक की भूमिका सदा महत्त्वपूर्ण रही है। ब्रैंडर मैथ्यूज के इन शब्दों में पर्याप्त सत्य है कि 'नाटक को समस्त जन-समुदाय को प्रसन्न करना होता है क्योंकि उसकी शक्तिमत्ता उसकी व्यापक

प्रभावशीलता में ही है। उसका प्रयोजन ही निष्फल हो जाता है, यदि उसमें सबके लिए कुछ न कुछ हो—तरुण और वृद्ध, धनवान और निर्धन; स्त्री और पुरुष, शिक्षित और अशिक्षित सभी के लिए। दूसरे साहित्य-रूपों की अपेक्षा नाटक में सामुदायिकता का तत्त्व अधिक सुरक्षित है, वह तत्त्व जो सारे आदिम काव्य का सार रहा है। सब कलाओं में नाटक अधिक लोकतन्त्रात्मक है क्योंकि जन-समूह के बिना उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता है। यदि नाटक केवल एक जाति, एक वर्ग और एक श्रेणी को आकर्षित करने की सोचता है तो कभी सफलता की आशा नहीं कर सकता; वह तो एक समूचे समुदाय की कला होनी चाहिए।'[1]

आधुनिक नाटक का विकास ठीक इसके विपरीत हुआ है। आधुनिक नाटक बोर्ज़्आ—अभिजातीय—है जिसकी रचना जन-समुदाय की अपेक्षा एक बहुत ही अल्पसंख्यक वर्ग के लिए होती जा रही है। राजतन्त्र में कथावस्तु, चरित्र आदि से लेकर रंगमंच तक के सारे उपादान किसी एक ख्यात, कुल-शीलवाले वर्ग के लिए सुरक्षित थे। फिर भी जन-सामान्य उससे एकदम कटा हुआ नहीं था। उसके लिए भी रंगमंच और नाटक में पर्याप्त सामग्री होती थी। जनतन्त्र के उदय के साथ यथार्थवाद ने जन-सामान्य को प्रश्रय दिया; किन्तु उसकी प्रतिक्रिया में उत्पन्न विभिन्न वादों के साथ समाज की अपेक्षा व्यक्ति केन्द्र में आ गया और अब हालत यह है कि आज का सारा नाटक वैयक्तिकता से बुरी तरह घिर गया है और यह वैयक्तिकता किसी सामाजिक इकाई की नहीं, वरन् उस अनचीन्हे व्यक्ति की है जो जन-समूह से अलग खड़ा है, जो अल्पसंख्यक और ऐबनार्मल है। अभिव्यक्तिवाद से लेकर विसंगतिवाद तक पश्चिम में और उनके अनुकरण पर हमारे देश में जो नाटक लिखे गये हैं, उनमें एक भी नाटक ऐसा नहीं जो जन-जीवन की समस्याओं से सीधा जूझने का प्रयास करता हो। अवचेतन, व्यक्ति चेतना, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और संघर्ष के नाम पर नाटक ने जो कुछ दिया है, वह एक समानान्तर रोमानी प्रवृत्ति के अतिरिक्त क्या है? किसी जमाने में (महान्) व्यक्तियों पर नाटक लिखे जाते थे, आज वैयक्तिकता नाटक का विषय बन गयी है और इस वैयक्तिकता के पीछे एक पूरी आभिजात्य भावना कार्य कर रही है।

आज का नाटक व्यक्तित्व की समस्याओं से बुरी तरह जुड़ गया है। एक ओर व्यक्तित्व के साक्षात्कार की भावना तीव्रता से बढ़ी है, दूसरी ओर परिवेश के दबाव के बीच मानव की अपनी इयत्ता गौण होती गयी है। इस प्रकार परिवेश के बीच व्यक्तित्व को जिलाये रखने की समस्या आधुनिक नाटक ने बड़े

१. ब्रैंडर मैथ्यूज : नाटक साहित्य का अध्ययन, हिन्दी अनुवाद : इन्दुजा अवस्थी, पृ० ४७

जोर से पकड़ी है। पर यह बौद्धिक पकड़ मानव को जिस दुर्बल, विवश और नियतिमूलक स्थिति में खड़ी करती है, वह बहुत निराशाजनक और भ्रमयुक्त है। यह उसे बन्धन मुक्त करने के बजाय बन्धन में बांधती है। कहने के लिए तो आधुनिक नाटक मानव को पुरानी रूढियों से मुक्त करता है, पर सचाई यह है कि वह उसे नई रूढ़ियाँ दे गया है। एक ओर आधुनिक नाटक मे चरित्र उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग बना दिखाई देता है, दूसरी ओर वह कुछ भी बनकर नही रह जाता क्योंकि वह विवश और दुर्बल है उसके चारों ओर का परिवेश और संघर्ष ही सब कुछ बन जाता है। मानव की यह नियति किसी तरह बहुत आश्वस्त करनेवाली चीज नहीं है। इसीलिए [आधुनिक नाटक मानव का नहीं उसकी परिस्थितियों का नाटक बनकर रह गया है। उसमें से जैसे मानव का मानवीय तत्त्व कहीं खो गया है—व्यक्तित्व का केन्द्रीय तत्त्व गायब हो गया है और वैयक्तिकता के नाम पर वे सब चीजें उभार दी गयी हैं जो महज गैर-जरूरी हैं। मानव में जो मानवीयता के तत्त्व उभारे भी जाते हैं, वे बहुत ही निर्जीव, निष्क्रिय और दयनीय हैं। आधुनिक नाटक में जिस मानव के, जिस व्यक्ति के दर्शन होते हैं, वह अकेला और असम्बद्ध है और उसकी भावना में से शाश्वत तत्त्व उड़ गया है।

आधुनिक नाटक की विषयवस्तु समस्यामूलक है, पर मुख्यत: अन्तर्जगत् की वे समस्याएँ ज्वलन्त नही होतीं, और न सर्व-सामान्य ही। उनमे अभिव्यक्त जीवन-मूल्य भी आदमी को कही नही ले जाते। इस प्रकार नाटक अभिजातीय आधार पर जिस रूप मे संगठित होता रहा है, उसमें उसे बहुत सफलता नही मिली। इसीलिए पश्चिम में हर दस साल बाद एक नया 'वाद' जन्म लेता रहा और नाटक एक खेमे से दूसरे खेमे तक भटकता रहा। पिछले कई वर्षों से नाटक के सामने कोई प्रेक्षक नही रहा, यदि रहा है तो वह व्यक्ति जो सामान्य जनता से अलग-थलग रहा है।

इस बात को महसूस करने की जरूरत है कि नाटक और रंगमंच, किसी भी जनतन्त्र में जनता का होता है और जन-साधारण से विलग होकर वह जी नहीं सकता। हमारा देश अनपढ़ों-अधपढो, गरीबों और अभावग्रस्त लोगों का देश है। ऐसे देश में जहाँ अधिकांश जनसंख्या ऐसे लोगों की हो, वहाँ नाटक और रंगमंच मुट्ठी-भर लोगों के ऐशो-आराम और सनक का प्रतीक बनकर रह जाय, यह सह्य नही हो सकता। असल में नाटक और रंगमंच की अवधारणा के पीछे हमेशा से जन-समुदाय रहा है। उसका प्रारम्भिक स्वरूप आनुष्ठानिक रहा है या सामुदायिक। चाहे वह ग्रीक रगमंच हो या भारतीय रंगमंच, सबके पीछे एक पूरी सामाजिक सम्पृक्ति थी। ग्रीक और रोमन नाटक हजारों की संख्या मे देखे जाते थे। नाटक देखना सबके लिए अनिवार्य-सा था—कैदियों

को जेल से छोड़ दिया जाता था और निर्धनों के लिए भी नाटक देखने के लिए सुविधा प्रदान की जाती थी। नाटक या रंगमंच किसी जाति या वर्ग के लिए नहीं था। नाट्यशास्त्र में कथा आती है कि विरूपाक्ष ने इस बात पर आपत्ति उठाई थी कि आपने नाट्यवेद की रचना देवताओं की इच्छापूर्ति के लिए की है जो एक प्रकार से दैत्यों का अनादर है। तब ब्रह्मा ने उत्तर में कहा था : 'हे दैत्यो, तुम्हारा यह क्रोध बेकार है और हे निष्पाप, मेरे द्वारा रचित यह नाट्यवेद आपके तथा देवताओं के दोनों के ही शुभ तथा अशुभ की विवेचना करने वाला है। यहाँ प्रस्तुत नाटक में न तो एकमात्र आप दैत्यों का भावन ही हुआ है और न केवल देवताओं का, वरन् इसमें सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण है।'[१] नाट्य की सृष्टि के लिए जब देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना की तो उसके पीछे भी मूल भावना उसकी सार्वजनीनता की ही थी : तस्मात् सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम्। बल सार्ववर्णिकता पर था। नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में कोई वर्ण नहीं, कोई वर्ग नहीं; कोई ऊँच नहीं, नीच नहीं। भरत की आत्मा आज के कुंठाग्रस्त नाटक और रंगमंच को देखकर क्या महसूस करती होगी!

साधारण लोगों की उपेक्षा करना आज के साहित्यिक और कला-रूपों में एक आम बात है। इसके पीछे आधारभूत विचार यह है कि ऊँचे और श्रेष्ठ नाटक और रंगमंच की सराहना करने की क्षमता जनसाधारण में हो ही नहीं सकती। इस सम्बन्ध में ब्रैण्डर मैथ्यूज की यह उक्ति विचारणीय है : 'जनता का निम्न वर्ग भी विषय की महानता और निरूपण की विशालता में रस लेता है। हैमलेट इन सब नाटकों में जो अंग्रेजी भाषा रंगमंच पर प्रस्तुत किए जा सकते हैं, सबसे अधिक लोकप्रिय है और तारत्युफ़ सदैव फ्रांसीसी दर्शकों को आकर्षित करता रहा है। बुद्धिवादी अभिजात व्यक्ति अधिकतर साधारण जनों की कला और राजनीति में प्रकट होने वाली रुचियों को नीचा समझता है। प्रबुद्ध विचारक प्रेजिडेण्ट बटलर ने हमें चेतावनी दी है कि यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि वही व्यक्ति जनता और वही भीड़ होते हैं। जब उनकी प्रवृत्ति उनके व्यवहारों पर हावी होती है तो वही व्यक्ति भीड़ होते हैं। बातूनी तो भीड़ को सम्बोधित करता है और सच्चा नेता जनता को। इसी प्रकार नाटक में भी होता है। सस्ते नाटकों का लेखक इसी भीड़ के लिए और कभी-कभी उनके निम्न भावों की तुष्टि के लिए अपने नाटकों की रचना करता है; परन्तु सच्चा नाटककार पूर्ण जनता से उच्चस्तर की बात कहने में कभी भयभीत नहीं होता। उसे ज्ञात है—चाहे अन्य लोग इसे भूल गए हों—कि काव्यात्मक नाटक जिन्हें साहित्यिक आलोचक अब इतना आदर देते हैं—जब प्रथम बार

१. नाट्यशास्त्र १।१०१-१०७

नाट्यगृह में प्रस्तुत हुए थे तो अत्यन्त सफल रहे थे। वह सच्चे मन से सिसेरो को यह बात दुहराएगा कि समय और अवसर मिलने पर स्पष्ट होता है कि बहुतों की स्वीकृति कलाकार की श्रेष्ठता का उतना ही आवश्यक परीक्षण है जितना कुछ विशिष्ट लोगों की स्वीकृति।"[1]

विशिष्ट लोगों की स्वीकृति पर निर्भर रहने वाला नाटककार अहंकारी होता है और यह फतवे देने लगता है कि मैंने अपने नाटक इक्के-तांगे या खोमचे वाले के लिए नहीं लिखे हैं। सचाई यह है कि नाटक सर्वसामान्य की उपेक्षा नहीं कर सकता—नाटक की रचना ही समूह के लिए होती है। इस समूह या समाज की अंग-रचना या रुचियों की उपेक्षा करना पूरी तरह सम्भव नहीं। नाटक का प्रेक्षक समूह का व्यक्ति होता है, पर वह भीड़ का परिचायक नहीं है। वह समाज का प्रतिनिधि होता है। समाज ही नाटककार को स्वीकार या अस्वीकार करता है—थोड़े से आलोचकों या प्रबुद्ध प्रेक्षकों के बल पर कोई नाटककार समाज में स्वीकृत नहीं हुआ है। शेक्सपियर स्वयं इसका एक बहुत बड़ा उदाहरण है। जब वह अपने युवाकाल में नाटक लिख रहा था तो सिडनी ने अपनी पुस्तक डिफेन्स ऑव पोयसी मे शेक्सपियर के लोकप्रिय नाटकों की मजाक उड़ाई थी और उसे यूनानी नाटकों के अनुकरण पर नाट्य रचना करने की सलाह दी थी। उस समय भी वह जन-साधारण ही था जिसने सिडनी की एक नहीं सुनी और शेक्सपियर का सच्चा मूल्यांकन किया।

और जो बात नाटक के लिए सही है, वही रंगमंच के लिए भी। वस्तुतः रंगमंच को दुहरे आक्षेप का भाजन बनना पड़ता है। एक ओर नाटककार उसके प्रति अविश्वास का भाव रखता आया है, दूसरी ओर प्रेक्षक उससे अपनी माँगें रखता रहा है। कई नाटककारों में प्रेक्षक के लिए जिस तरह घृणा का भाव होता है, उसी तरह रंगमंच के लिए भी। वे यह मानते हैं कि रंगमंच नाटक के लिए है, नाटक रंगमंच के लिए नहीं। उनकी दृष्टि में रंगमंच मूर्खों के हाथ में है। वह या तो कला की दृष्टि से बिलकुल असमर्थ है या फिर भ्रष्ट है। दूसरी ओर रंगकर्मी सारा दोष नाटककार के मत्थे मढ़ते हैं। उनका विचार है कि नाटककार को रंगमंच और जन-जीवन का ज्ञान ही नहीं रखता। हिन्दी के लिए तो यह बात भी आसानी से कह ली जाती है कि उसमें नाटक ही नहीं, कोई लिखने वाला ही नहीं; जो लिखते हैं वे या तो निहायत घटिया लिखते हैं या कोर्स के लिए लिखते हैं। ये सारे आक्षेप उस मोर्चेबन्दी के

१. ब्रैंडर मैथ्यूज : नाटक साहित्य का अध्ययन, पृ० ४६

परिचायक हैं जो किले को हथियाने के लिए की जाती है। और यह किला है रंगमंच। रंगकर्मी और नाटककार दोनों इसे हथियाना चाहते हैं। नाटककार का तर्क है कि रंगमंच का आदिकर्ता वह है; किन्तु परिचालक उसे एकदम बाहर निकालकर उसमें केवल अपने को प्रतिष्ठित करना चाहता है। इन दो अतिसीमाओं के बीच कहना होगा कि रंगमंच न एकदम परिचालक का है और न नाटककार का ही। उसे दोनों के सहयोग पर निर्भर करना होगा और उसके लिए दोनों को एक ही लक्ष्य साधना होगा—प्रेक्षक।

प्रेक्षक नाम के इस प्राणी से जहाँ नाटककार को हमेशा शिकायत रहती है, वहाँ रंगकर्मी को भी कम नहीं रहती। रंगमंच अगर प्रेक्षक की रुचि को सीधा साधन बनाता है तो उसका परिणाम वही होता है जो हमें बम्बइया फिल्मों में देखने को मिलता है। या नाटक के क्षेत्र की ही बात करें तो पारसी थियेटर का नाम लिया जा सकता है। हाल में दिल्ली में पंजाबी रंगमंच ने कुछ-कुछ वैसी ही लोकप्रियता अर्जित कर ली है।

इसीलिए प्रेक्षक के वास्तविक स्वरूप से या तो रंगमंच अभिभूत रहता है या भयभीत। इससे बचने के लिए ही भरत को आदर्श प्रेक्षक की परिकल्पना करनी पड़ी, पर साथ ही उसकी सारी गुण-सम्पदा के उल्लेख के बावजूद भी वे इस वस्तुसत्य से परिचित थे कि उत्तम, मध्यम, अधम सभी प्रकार के प्रेक्षकों की अपनी-अपनी रुचि होती है—तरुण व्यक्ति काम भाव से तो अर्थ-लोभी धनधान्य से, विरागी व्यक्ति धर्माख्यानों से तो शूर मारकाट के प्रसंगों से प्रसन्न होते हैं।[1] भरत को यह भी ज्ञात था कि उत्तम पात्रों के अभिनय को सामान्य प्रेक्षक ग्रहण नहीं कर पाते। इसके बावजूद भी उन्होंने सामाजिकता, सहृदयता और सौमनस्य ऐसे मानवीय गुण माने हैं जो सभी प्रेक्षकों को एकसूत्र में बाँधने में सहायक होते हैं। वास्तव में प्रेक्षक के संस्कारों को जगाना, उसे उठाना या गिराना बहुत कुछ नाटक और रंगमंच पर निर्भर करता है। प्रेक्षक को दोष देना उचित नहीं है—वह उठने को भी तैयार रहता है और गिरने को भी। नेमिचन्द्र जैन के इस कथन में सचाई है कि 'सार्थक नाटक एक साथ ही कई स्तरों पर विभिन्न रुचियों और संस्कारों वाले दर्शक वर्ग को सम्प्रेषित होता है। सामान्यतः नाटक का आवेदन न तो दर्शक वर्ग के सबसे विकसित अंश के लिए अभिप्रेत है और न सबसे निचले पिछड़े हुए अंश के लिए। पर चूँकि एक तो इन दोनों अंशों में व्यवधान अगम्य नहीं होता; और दूसरे, नाटक दोनों के बौद्धिक औसत के कहीं बीच में अभिव्यक्त होता है; और तीसरे, उसमें एक साथ ही कई स्तरों पर जीवन के यथार्थ का उद्घाटन होता है—इसलिए वह सम्पूर्ण दर्शक-वर्ग

१. नाट्यशास्त्र २७।५६-६१

को स्पर्श करता है और उसे भाव-विचलित करता है।'[1]

नेमिचन्द्र जैन प्रेक्षक वर्ग के बीच बेपनाह दूरी की बात करते हैं। हमारी दृष्टि में संवेदना, सामाजिकता आदि के सर्व सामान्य तत्त्व उस दूरी को पाटने में समर्थ होते हैं। इसलिए प्रेक्षक के पिछड़ेपन या भ्रष्ट रुचि की बात बहुत महत्त्व नहीं रखती। अच्छा नाटक और रंगमंच प्रेक्षक को ऊँचा उठाता है, उसे सही दिशा में प्रशिक्षित करता है। हमें शिकायत प्रेक्षक से नहीं नाटक और रंगमंच से करनी चाहिए। हिन्दी के संदर्भ में तो यह बात भी उठाई जाती है कि उसके पास प्रेक्षक नहीं है। सचाई यह है कि हिन्दी के पास न नाटक है न रंगमंच। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब नाटक और रंगमंच रहा है तब-तब प्रेक्षक भी रहे हैं—प्रेक्षकों की भीड़ पारसी रंगमंच पर टूट पड़ती थी, इस सत्य को कैसे भुलाया जा सकता है ? वह भ्रष्ट रंगमंच था, इतना मात्र कह देने से काम नहीं चलेगा। वह जन-साधारण का रंगमंच भी था जिसको ऊँचे सर्जनात्मक स्तर तक पहुँचाने के बदले हिन्दी वाले नाक-भौंह मात्र सिकोड़ते रहे। हिन्दी रंगमंच इतिहास में कभी सिर उठा ही नहीं पाया, क्योंकि उसने सामान्य प्रेक्षक को अछूत समझा और उसके प्रति उदासीन रहा। वस्तुतः रंगमंच की सिद्धि कुछ गिने-चुने प्रबुद्ध प्रेक्षकों के सामने नाटक खेल देने में नहीं है। सिद्धि तो इस बात में है कि वह प्रेक्षक को परितुष्ट करे। भरत ने इसी सन्दर्भ में दैवी, मानुषी और वाङ्मयी सिद्धियाँ गिनाई हैं।[2]

प्रेक्षक के लिए 'सामाजिक' शब्द का प्रयोग भी होता है। एक दृष्टि से यह प्रयोग बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि प्रेक्षक अपने मनोरंजन के लिए नाटक देखने आते हैं, किन्तु मनोरंजन के अतिरिक्त भी नाटक और रंगमंच के और भी कई लक्ष्य होते हैं। कुछ लोग नाटक देखने की क्रिया को जीवन और जगत् से पलायन मानते हैं; किन्तु सही अर्थों में नाटक देखने को समाज, जीवन या जगत् से पलायन का पर्याय नहीं माना जा सकता। यह तो एक प्रकार से सामाजिक समस्याओं में प्रवेश करना जैसा है। नाट्य प्रदर्शन प्रेक्षक को एक सामाजिक अनुभव प्रदान करता है—मानव-बिरादरी के व्यवहार से परिचित कराता है। जब नाटक धार्मिक अनुष्ठान से संबद्ध था, तब सारा रंगमंचीय क्रिया-कलाप सामाजिक नियन्त्रण का प्रतीक था। धीरे-धीरे नाटक और रंगमंच आनुष्ठानिक क्रियाओं से मुक्त हुआ तो संस्कृति और सभ्यता के दबाव ने मानव की सहज

१. नेमिचन्द्र जैन : रंगदर्शन, पृ० ५७
२. नाट्यशास्त्र २७।१-१२

प्रवृत्तियों का प्रतिबन्ध नित्यप्रति सुदृढ़ होता गया। फलतः रंगमंच पर व्यक्ति की इच्छाएँ, कामनाएँ और दमित वासनाएँ उभरकर आईं। फलतः व्यक्ति और समाज के संघर्ष में रंगमंच की सामाजिकता सामने आई।

वस्तुतः नाटक का सामाजिक तत्त्व ही प्रेक्षक को सबसे अधिक आकर्षित करता है। इसके अन्तर्गत वे सब बातें हैं जिनसे समाज की संरचना होती है। समाज के विभिन्न अंग एक-दूसरे के संघर्ष मे आते है। सामाजिक संदर्भ मे व्यक्ति के जीवन में ऐसा बहुत कुछ घटता है जिसकी जिज्ञासा रंगशाला मे बैठे हुए प्रेक्षक को सदा से होती रही है। इस प्रकार कभी-कभी पात्र भी नाटक मे अद्‌भुत आकर्षण का विषय होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कोई व्यक्ति समाज में होता है। इस प्रकार रंगमंच पर प्रस्तुत सम्पूर्ण नाटक समाज की सरचना का आभास देने, दमित इच्छाओं को मुखर करने तथा जीवन-संघर्ष को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से प्रेक्षक के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करता है। इस प्रकार एक सामाजिक अनुभव देना प्रेक्षक की दृष्टि से नाटक के लिए बहुत जरूरी है।

प्रेक्षक किसी भी नाटक में रुचि उसकी आधार-वस्तु के आधार पर लेता है। यह आधार-वस्तु जब समाज के अनुभव को लेकर चलती है, तभी प्रेक्षक उसे ग्रहण करता है। व्यक्ति समाज में एक अपनी भूमिका निभाता है। इस अर्थ मे ससार भी स्वयं एक बहुत बड़ा रंगमंच है जिसमें हर पात्र की अपनी-अपनी भूमिका है। ससार के रंगमंच का यही 'पात्र' जब प्रेक्षक के रूप में नाटक के संसार मे प्रवेश करता है तो उसमे भी अपने लिए एक काल्पनिक भूमिका चुनता है।[1] साधारणीकरण का मूल आधार यही है।

आज का नाटक और रंगमंच इस प्रेक्षक की उपेक्षा कर रहा है। वस्तुतः नाटक और रंगमंच की दुनिया में से वास्तविक सामाजिक तत्त्व जैसे लुप्त होता जा रहा है। वह या तो कुछ नाटककारो और रंगकर्मियों की प्रयोग की सनक का शिकार हो गया है या फिर उसने प्रेक्षक की हीन रुचियों को रिझाने के लटके अख्तियार कर लिये हैं। नाट्य मात्र मनोरंजन नही है और न उसे प्रयोग मात्र ही समझा जाना चाहिए। प्रेक्षक को लक्ष्य में रखते हुए नाटक और रंगमंच दोनों को प्रतिबद्ध होना चाहिए। हम यह नही कहना चाहते कि उन्हें क्लास रूम शिक्षा के स्तर पर आयोजित किया जाय; किन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि नाटक और रंगमंच की सच्ची उपलब्धि प्रेक्षक को रिझाने मे नही है, बल्कि रिझाते हुए जगाने मे है। विचारो को जगाना, प्रेक्षक को जागरूक बनाना भी रिझाने का ही एक रूप है। ब्रेख्त ने अपने 'एपिक थियेटर' की अवधारणा

१. जे० एस० आर० गुडलैंड : ए सोशियोलॉजी ऑव पोपुलर ड्रामा, अध्याय २

मे सबसे अधिक महत्त्व पर्यवेक्षण को दिया है।[1] उसका विचार था कि व्यक्ति पहले गहराई से देखे, अनुभव करे और फिर उसमें से स्वय अपने लिए जीवन और शिक्षा के सूत्र निकाले। पर्यवेक्षण केवल पर्यवेक्षण के लिए कोई अर्थ नही रखता, यदि वह प्रेक्षक को किसी दिशा में नही ले जाता। नाटक और रगमंच सकेत दे, दिशा दे, यह सम्भव है, ऐसा उसे करना भी चाहिए; किन्तु कोई शिक्षा और नैतिकता उसका तात्कालिक लक्ष्य नही हो सकता। बहुत-सी ऐसी परिस्थितियां है जिनके साथ नैतिकता नही, सहज प्रवृत्तियां जुड़ी हुई हैं, पर वे जीवन मे समस्याएँ खड़ी करती है। नाटक और रंगमच को ऐसे उपाय खोजने चाहिए जो उनको समझने या सुलझाने मे सहायक हो।

इतना ही काफी नहीं है कि रंगमच प्रेक्षक को मन्त्रमुग्ध करके रख दे कि वे न हिल-डुल सकें, न सोच सकें, न बोल सकें—केवल टकटकी लगाकर देखते रहे। यह तो एक तरह से अलगाव की स्थिति है। रगमंच और प्रेक्षक के बीच सीधा लगाव—इन्वोल्वमेण्ट—होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि मूल लक्ष्य प्रेक्षक होना चाहिए। रगमंच के और सब तो कर्त्ता हो सकते है, पर भोक्ता वही है; रंगमच उसी का है और उसी का बनकर उसे रहना पड़ेगा। प्रेक्षक को मात्र एक अनुभव चाहिए; बच्चे की तरह जो घोड़े पर सवार होना चाहता है। प्रेक्षक भी एक ऐसा ही बच्चा है जिसको रंगमंच एक वाहन के रूप में चाहिए जिससे उसे लगे कि वह कही ले जाया जा रहा है—किसी लक्ष्य की ओर, किसी दिशा की तरफ। हमको आज ऐसा नाटक चाहिए, ऐसा रंगमच चाहिए जो प्रेक्षक को समर्पित और सम्बोधित हो, जो मानवीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे निहित विभिन्न प्रवृत्तियों का विरेचन ही नही कर दिखाए, वरन् उनका परिष्कार ही कर डाले।

रंगमंच अनुभव करने, सोचने-विचारने तथा जीवन के यथार्थ और सम्भावनाओ की तलाश करने का अवसर प्रदान करता है। अल्काजी के इस कथन पर बल देते हुए प्रो० एम० एम० भल्ला ने रंगमंच और प्रेक्षक के सम्बन्धो के बारे मे कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं।[2] उन्होने कहा है कि अन्तरात्मा को जगाने और जागरूकता का विस्तार करने मे रगमच का महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है; खासकर हमारे समाज मे जिसमे विचारो का सप्रेषण आज इतना आवश्यक हो गया है जितना पहले कभी नही हुआ था। हमारा समाज अनपढ़ और अधपढ़ है। साथ ही हम विकास के एक नये दौर मे से गुजर रहे है जब पुरानी मान्यताएं एकदम ध्वस्त होती जा रही है; नैतिकता का ह्रास

१. जॉन विलेट : ब्रेख्त ऑन थियेटर, पृ० ७५
२. एम० एम० भल्ला : ए हैण्डफुल ऑव ड्रीम्स, पृ० ५२

नाटक को सार्वजनिक और लोकप्रिय रंगमंच तक पहुँचने के लिए सम्भवतः भारतेन्दु काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।'[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा नाटक चाहे 'हिन्दू राजाओं के राज्यों में वैष्णव आन्दोलन की प्रेरणा से स्थायी और अस्थायी रंगमंचों पर खेले जाते रहे हों, पर न उनमें नाट्य तत्त्व ही दिखाई देता है और न रंग-सम्भावनाएँ ही। इसीलिए स्वयं डॉ० दशरथ ओझा यह स्वीकार करते हैं कि 'इतना अवश्य है कि भारतेन्दु काल तक आते-आते चार शताब्दियों तक प्रचलित नाट्य परम्परा धूमिल हो गयी थी और वह रामलीला एवं कृष्णलीला तक क्षेत्रीय रूप में सीमित रह गयी थी।'[2] वस्तुतः केवल लोक नाट्य की परम्परा थी जो संस्कृत नाटकों के ह्रास और हिन्दी नाटक और रंगमंच के उदय के बीच सेतु बनकर जीवित रही।

कुछ विद्वानों ने हिन्दी नाट्य और रंग-परम्परा का उद्‌भव लोकनाट्य और रंगमंच से जोड़ने का प्रयास किया है। कुछ सम्बन्ध-सूत्र और प्रभाव ढूँढ निकालना मुश्किल काम नहीं है, किन्तु सचाई यह है कि लोकनाट्य की परम्परा प्राचीन काल से ही साहित्यिक नाटकों के साथ विद्यमान रही है। नाट्यशास्त्र में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दोनों परम्पराओं का साथ-साथ उल्लेख मिलता है। अन्तर यही था कि नाट्यधर्मी परम्परा को अभिजात वर्ग और राजा-महाराजाओं का संरक्षण प्राप्त था, किन्तु लोकधर्मी नाट्य परम्परा स्वतन्त्र रूप में जन-जीवन में फलती-फूलती रही। हर्ष के बाद जब देश विशृंखल हो गया और उसके साथ ही निराशा के वातावरण में भक्ति ही जब जीवन का एकमात्र आश्रय रह गयी तो मध्यकाल में राम और कृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित लोकनाट्य ही रंगमंच के साथ जुड़ने के लिए बच रहे। पर जिस प्रकार भक्ति की जड़ें बहुत पीछे तक गयी हैं, उसी प्रकार मध्यकालीन लीला नाटकों की पृष्ठभूमि बहुत पुराने आध्यात्मिक अनुष्ठानों और लीला रूपों में खोजी जा सकती है। जिन परिस्थितियों ने हिन्दी में तुलसी, सूर, कबीर और जायसी को जन्म दिया, उन्होंने लोकनाट्य को भी प्रोत्साहित किया। रंगमंचों के विनाश और अभाव के कारण नाट्यधर्मी नाट्य-परम्परा के लिए कोई स्थान बच नहीं रहा था, फलतः भक्तिकाल ने लोकधर्मी नाट्य-परम्परा को ही अपना साधन बनाया।

१. कुं० चन्द्रप्रकाश सिंह : हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, पृ० २०-२१
२. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग ११, पृ० २७

हिन्दी क्षेत्र में लोक नाट्यों के अनेक रूप प्रचलित रहे हैं। इनमें कलात्मक उपलब्धि की दृष्टि से रासलीला, रामलीला, माच, ख्याल, नौटंकी, स्वाँग, भगत, आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें रासलीला सम्भवतः बहुत पुरानी परम्परा का द्योतन करती है।

रासलीला का मुख्य उद्देश्य सांसारिक लोगों को भक्ति-रस की उपलब्धि कराना है। रास का आयोजन प्रायः भक्तजनों द्वारा मन्दिरों में किया जाता है। मंदिर के प्रांगण मे ही प्रायः नाट्य मंडप बना लिया जाता है और तीनों ओर से प्रेक्षकों के लिए बैठने का स्थान होता है। रासलीला का प्रारम्भ मंगलाचरण तथा अन्य शास्त्रीय विधियों से होता है। उसके बाद गोपियाँ, कृष्ण और उनके सखा प्रवेश करते हैं। एकासन पर स्थित राधा-कृष्ण की झाँकी प्रस्तुत की जाती है और इसके साथ ही सखियों के द्वारा नृत्य और गीत प्रस्तुत होता है। रास मंडल में उतरने के आग्रह पर कृष्ण और राधा रास मंडल में उतरते हैं और वेणु-वादन के साथ कृष्ण रास का समारम्भ करते हैं। फिर मंडल रूप में नृत्य होता है जो काफी देर तक चलता है। इतना अंश नित्य रास कहलाता है क्योंकि यह उसका अनिवार्य तत्त्व है। इसके सम्पूर्ण हो जाने के बाद ही लीलाएँ प्रारम्भ की जाती हैं। इन लीलाओं में कृष्ण जन्म से लेकर मथुरा-प्रवास तक की लीलाएँ मुख्य है। मुख्य रूप से बाल लीलाएँ, वन-विहार, गोचारण, कुंज-लीलाएँ, पूतना-वध, कालिय-दमन, गोवर्धन-धारण, दान लीला, नौका-लीला, मौरा-लीला आदि अनेक लीलाएँ उल्लेखनीय हैं। रास मुख्यतः नृत्य और संगीतात्मक नाट्य रूप है।

सामान्यतः रास की उत्पत्ति ब्रज में सोलहवी शती में मानी जाती है। किन्तु रासलीला देश के विभिन्न भागो में किसी न किसी रूप मे विद्यमान मिलती है। फिर भी इसमे कोई सन्देह नही कि ब्रज प्रदेश रासलीला का केन्द्र रहा है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई किंवदन्तियाँ प्रचलित है जिनके अनुसार वल्लभाचार्य, स्वामी हरिदास, घमंड देव, नारायण भट्ट, हित हरिवंश आदि को इसका प्रवर्तक माना जाता है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने हित हरिवंश को ही रास का प्रवर्तक सिद्ध किया है।[1] कई दृष्टियों से यह समीचीन भी जान पड़ता है।

रासलीला की सबसे बडी उपलब्धि यह है कि भक्ति आन्दोलन के समानान्तर इसके प्रति सभी कृष्ण-भक्त सम्प्रदायों में एक निष्ठा दिखाई देती है। हिन्दी के भक्त कवियों में रासलीला/कृष्णलीला लोकप्रिय ही नहीं हुई, वरन् नन्द-दास, ब्रजवासीदास, ध्रुवदास, जैसे अनेक भक्त-कवि उनकी रचना की ओर

१. डा० विजयेन्द्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और

आकृष्ट भी हुए। रासलीला की लोकप्रियता चाहे मध्यकाल में ही मिली; पर उसके अस्तित्व का आभास वैदिक काल के नृत्य रूपों में ही मिल जाता है। उसके बाद भरत के नाट्यशास्त्र में रास/रासक की चर्चा मिलती है। अभिनव भारती, नाट्यदर्पण, भाव प्रकाशन और कामसूत्र में हल्लीसक के रूप में मंडल नृत्य का उल्लेख आया है। पुराणों तथा अन्य ग्रंथों में भी रासक, हल्लीसक और नाट्य रासक के अनेक प्रयोग मिलते हैं।[1] अपभ्रंश में भी इसकी समृद्ध परम्परा थी। दुर्भाग्य से हिन्दी में आते-आते 'रासक' की दृश्य-परम्परा 'रासो' की श्रव्य परंपरा में परिणत हो गयी। फिर भी संदेश रासक जैसे जो ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं, अभिनेय नाटक की पूर्णता उनमें भले ही न हो, पर वे हिन्दी नाटक के उद्भव और विकास की प्रक्रिया को समझने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत अवश्य देते हैं। ये संकेत इतने प्रलोभक हैं कि डॉ० दशरथ ओझा गयसुकुमार रास को हिन्दी का प्रथम नाटक मान लेने का लोभ-संवरण नहीं कर सके।[2]

अपभ्रंश के रास नाटकों से लेकर ब्रज के रासलीला नाटकों तक जो एक समृद्ध परम्परा बरसों तक इस देश में पनपती रही, उसने रंगमंच को सूना नहीं रहने दिया। हिन्दी के सारे मध्यकालीन भक्ति काव्य ने इससे अत्यधिक प्रेरणा ली है। डॉ० चन्द्रप्रकाश सिंह के शब्दों में 'भक्त कवियों की रचना में गेयता और अभिनेयता का जो विशेष उत्कर्ष देखा जाता है उनके मूल में रासलीला नाटकों की ही प्रेरणा प्रधान है। रीतिकालीन कवियों पर भी लीला नाटकों का प्रभाव देखा जा सकता है। अनेक रीतिकालीन कवियों ने ऐसे छंद लिखे हैं जिनमें निकुंज अथवा छद्म लीलाओं का नाटकीय संयोजन किया गया है।···भारतेन्दु जी ने रासलीला नाटकों की परम्परा और प्रविधि का अत्यंत कलात्मक प्रयोग अपनी चंद्रावली नाटिका में किया है। वियोगी हरिजी की छद्म-योगिनी नाटिका भी इसी शृंखला की एक कड़ी है।'[3]

रासलीला की भाँति ही रामलीला को भी युगों से लोक में अद्भुत लोकप्रियता मिली है। जैसे पीछे कहा जा चुका है, थाइलैण्ड, कम्बोडिया, बालि, जावा आदि कई सुदूर-पूर्व एशियाई देशों में रामकथा के नाट्य प्रदर्शन की सुसंगठित परम्परा है जो बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। भारत में भी राम वैदिक काल में अज्ञात नहीं थे। वाल्मीकि रामायण ने राम की महत्ता प्रतिपादित की और पुराणों में उनका अवतारी रूप प्रतिष्ठित हुआ। हरिवंश

१. इसकी विस्तृत चर्चा के लिए देखिए : कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह लिखित हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, पृ० १०९-११५
२. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास
३. हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, पृ० १२१-२२

में इस बात का उल्लेख मिलता है कि प्रद्युम्न, साम्ब आदि यादवों में अन्य नाटकों के साथ रामजन्म का भी अभिनय किया था। ऐसा भी कहा जाता है कि लव और कुश ने मंच पर रामायण का पाठ किया था, बाद में उन्हीं के नाम को लेकर कुशीलव परम्परा चल पड़ी थी। प्राचीन संस्कृत साहित्य में राम को लेकर अनेक नाटक लिखे गये—इनमें भास का प्रतिमा नाटक, भवभूति का उत्तर रामचरित, मुरारि का अनर्घराघव, जयदेव का प्रसन्नराघव, रामभद्र दीक्षित का जानकी परिणय, दिङ्नाग का कुंदमाला, मधुसूदन मिश्र का हनुमन्नाटक आदि उल्लेखनीय हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि राम-सम्बन्धी नाटकों की साहित्यिक परम्परा के साथ समानान्तर रूप से रामलीला नाटकों की एक लोकधर्मी परम्परा भी व्याप्त रही होगी। लगभग सत्रहवीं शती तक राम-नाटकों की नाट्यधर्मी परम्परा सक्रिय रही; उसके ह्रास के साथ ही लोकधर्मी परम्परा को भक्ति आन्दोलन के कारण अधिक प्रश्रय मिलता गया जिससे रामलीला लोक नाट्य रूप को एक स्थिर आधार-भूमि प्राप्त हुई।

रामलीला के प्रवर्त्तन का श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को दिया जाता है। सम्भवतः रामकथा इससे पहले भी मंच पर पाठ्य रूप में प्रस्तुत की जाती रही थी। विंडिश, ओल्डेनबर्ग आदि ने वैदिक ऋचाओं के सम्बन्ध में ऐसी ही बात कही है। प्रसाद ने अपने काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में इसी आधार पर यह माना है कि प्राचीन काल में इसी प्रकार के मंचीय पाठन से नाटक का उदय हुआ है। रामचरितमानस में तुलसीदास ने संवाद और नाटकीय तत्व का पर्याप्त समावेश किया है। पहले-पहल पाठक (पाठ करने वाले) और धारक (व्याख्या करने वाले) गायक दल के माध्यम से रामलीला का अभिनय शुरू हुआ होगा। भक्तिकाल तक आते-आते उसने पूर्णतः एक नाटकीय स्वरूप ग्रहण कर लिया होगा—भक्ति के विकास के लिए इसकी अपेक्षा की गयी होगी। फिर एक समय ऐसा आया जब रामलीला उत्तर भारत में ही नहीं, दक्षिण और पूर्व तक फैल गयी।

काशी और अयोध्या रामलीला के मुख्य केन्द्र बने। रामलीला मुख्यतः दो रूपों में खेली जाती है। एक प्रचलित पद्धति यह है कि उसमें रामलीला किसी एक नाट्य मंडप पर खेलने के बजाय नगर के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में खेली जाती है। कहा जाता है कि तुलसीदास ने जो रामलीला चलाई थी, उसमें यही व्यवस्था काम में लाई जाती थी। उन्होंने काशी के मुहल्लों को राम-कथा के विविध प्रसंगों से सम्बन्धित नाम दिए हुए थे और वे प्रसंग वहीं खेले जाते थे। काशी की यह रामलीला तब से विजयादशमी के अवसर पर खेली जाती है। किन्तु अयोध्या में तुलसीदास ने चैत्र मास में रामलीला कराने की पद्धति

अपनाई थी। आज भी उत्तर प्रदेश में रामलीला आश्विन में होती है, राजस्थान, मालवा आदि क्षेत्रों में चैत्र में।

रामलीला का आधार ग्रंथ तुलसीदास का **रामचरितमानस है**; किन्तु कालान्तर मे रामलीला मंच के लिए कई रामलीला नाटक लिखे गये जिनमे प्राणचन्द का **रामायण महानाटक**, हृदयराम का हनुमन्नाटक आदि उल्लेखनीय हैं। रामलीला नाटकों की यह परम्परा भारतेन्दु युग तक जीवित रही। स्वयं भारतेन्दु ने 'काशी की प्रसिद्ध रामलीला के लिए सरस पाठ्य का प्रणयन किया जिसमें पाठक और धारक के लिए उपयुक्त सामग्री मिलती है।'[1] भारतेन्दु के सहयोगियों में प्रेमघन, ईश्वरी प्रसाद, ज्वाला प्रसाद मिश्र, व्रजचन्द जनवल्लभी, नारायण सहाय आदि ने भी रामलीला नाटक लिखकर इस परम्परा को आगे बढ़ाया।[1]

मध्य भारत मे इन लीला रूपों के साथ-साथ **मांच और ख्याल** भी विशेष रूप से प्रचलित हैं। मांच मंच शब्द से व्युत्पन्न है और इस लोक नाट्य की मंचीय प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। मांच मालवा का प्रसिद्ध लोक नाट्य है। इसका मंच दृढ़ खम्भो पर कई फुट ऊँचा बनाया जाता है और मंच को आम के पत्तों, झालरों, कागज की रंगीन झंडियो से सजाया जाता है। मांच के नाट्यारम्भ की प्रस्तावना बड़ी रोचक होती है। कथावस्तु की दृष्टि मे इसकी मूल प्रवृत्ति वीरपूजा की दिखाई देती है। इसके साथ ही इसमें पौराणिक आख्यानों का भी समावेश हुआ है।

राजस्थान मे **मांच ख्याल** के रूप मे प्रचलित हैं। कुछ लोगों ने दोनो को भिन्न माना है, पर अधिकांश दोनो को एक ही मानते है। बालमुकुंद गुरु ने **ख्याल और मांच** दोनों शब्दों का प्रयोग किया है जैसे ख्याल मांच का ढोला मारुणी। श्री उदयशंकर शास्त्री के अनुसार अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ की आगरे के इर्द-गिर्द आविर्भूत कविता की एक शैली थी जो उर्दू-फारसी मसाले से तैयार हुई थी। अगरचन्द नाहटा के अनुसार ख्यालों का प्रचार उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुआ था। मांच के प्रवर्तकों में जहाँ बालमुकुंद गुरु, मेरु गुरु तथा कालूराम उस्ताद के नाम प्रसिद्ध हैं वहाँ ख्याल लेखकों की भी एक लम्बी पाँत मिलती है। मुख्यत. ख्याल अमरसिंह राठौर, गोपीचन्द, जगदेव, भरथरी, नल, रिसालू, छैला पनिहारी, निहाल दे, रुक्मिणी, पूरनमल भगत, लैला मजनू आदि के सम्बन्ध मे है और उनकी संख्या सैकड़ों तक बताई जाती है।

भगत, स्वांग और नौटंकी की मूल प्रवृत्ति शृंगारी है। कुछ लोग नौटंकी

१ कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह : हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमच की मीमासा, पृ० १४२-१४६

की व्युत्पत्ति नाटकी से मानते हैं और उसकी परम्परा को नाट्यशास्त्र के सट्टक से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। दूसरी ओर डॉ० रामबाबू सक्सेना ने अपने उर्दू-साहित्य के इतिहास मे उसका उद्भव उर्दू कविता और लोकगीतो से माना है। जगदीश चन्द्र माथुर ने लिखा है कि नौटंकी पहले एक गाथा का नाम था जो इतनी लोकप्रिय हुई कि नाट्य-रूप विशेष का पर्याय बन बैठी।[1] उन्होंने नौटंकी की गाथा वर्णित करते हुए लिखा है कि वह मुलतान की राजकुमारी थी जिसकी प्रणय कथा बहुत ही रोमांचकारी है। नौटंकी या स्वाँग का प्रचलन संभवत: सत्रहवीं-अट्ठारहवी शताब्दी मे हुआ। नत्थाराम शर्मा, दीपचन्द, लखमी चन्द तिरमोहन, श्रीकृष्ण, राधेश्याम कथावाचक, लम्बरदार आदि ने कई प्रसिद्ध नौटंकियाँ लिखी। पद्मावती, खुदा दोस्त, सारन दे, चन्द्रकिरण, निहालदे आदि कुछ नौटंकियाँ लोकप्रिय रही है।

अन्य लोकनाट्य-रूपों की भाँति ही नौटंकी मे विशेष बल काव्य और संगीत पर होता है। कथावस्तु की प्रस्तुति मे न यथार्थ पर ध्यान होता है, न दृश्य पर और न देशकाल पर। सूत्रधार कथा के सूत्र को आगे बढ़ाता है—वह एक बहुत ही प्रभावशाली अभिनेता होता है जो सारे नाट्य की गति पर काबू रखता है। अभिनेता वास्तविकता का भ्रम बनाये रखने की प्राय. कोशिश नही करते। ऐसा भी देखा गया है कि अभिनय करते-करते अभिनेता हुक्के का एक कश लगाने के लिए रुक जाता है या बीच मे पान चबाने लगता है।

ब्रज और हरयाणा में नौटंकी की ही शैली पर भगत लोकनाट्य का प्रचलन है। ब्रज प्रदेश में आगरा और हाथरस मे भिन्न-भिन्न प्रकार के भगत होते हैं। हरयाणा में साँग की परम्परा अधिक है। भगत, नौटंकी या स्वाँग एक ही लोकनाट्य-परम्परा के तीन रूप है। डॉ० श्याम परमार के शब्दो में : 'कही स्वाँग के नाम से नौटंकी विख्यात है या कही भगत के नाम से। स्वाँग की प्राचीनता में सन्देह नही, भगत मध्यकाल की वस्तु है और नौटंकी प्राचीन स्रोत मे रीतिकालीन अथवा उससे थोड़े पहले की ऐहिक प्रवृत्तियो की मिली-जुली धारा है। अमीर खुसरो की भाषा का प्रभाव नौटंकी पर लक्षणीय है जो निस्सन्देह मुसलमानी प्रश्रय का प्रतिफल प्रतीत होता है।'[2] स्वतन्त्रता संग्राम के दिनो में बिहार में बिदेसिया लोकनाट्य का विकास हुआ। हिन्दी क्षेत्र के इन लोकनाट्यो की नाटक और रंगमंच के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण देन है। पारसी थियेटर के बहुत से नाटको— इन्दर सभा, लाला रुख, प्रेमकुमारी, जवानी का नशा, त्रिया-चरित्र आदि के कथानक इनसे जुड़े हुए हैं। हिन्दी नाटक भी इसका

१. रूरल थियेटर इन इण्डिया, पृ० ६६
२. लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ० ५०

कुछ प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने लोकनाट्य के तत्वों को अपनाया है और अब इधर नये नाटककारों और रंगकर्मियों का ध्यान इस ओर गया है। हबीब तनवीर ने इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी मे एक ओर लोकनाट्यों की परम्परा चल रही थी, दूसरी ओर पारसी थियेटर सुसंगठित होकर उभर रहा था और लगभग एक शताब्दी तक यह लोक मे हावी रहा। इसकी मूल प्रेरणा पाश्चात्य रंगमंच था। १७५६ मे अंग्रेजो ने अपने मनोरंजन के लिए लाल बाजार मे एक नाट्यशाला की स्थापना की थी। इस दिशा मे दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयास एक रूसी लेबेदेफ का था जिसने १७६५ मे डोम टोला (एजरा स्ट्रीट) मे एक भारतीय रंगमंच की स्थापना की थी जिसमे स्थानीय लोगों की मदद से विदेशी नाटकों के बंगला अनुवाद मंचित किए गये थे। एक और रंगशाला की स्थापना सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् डॉ० एस० एस० विलसन, कैप्टेन रिचर्डसन आदि ने १८४१ मे की थी जिसने संस्कृत नाटकों को प्रोत्साहन दिया। इनकी सफलता को देखते हुए बंगाल मे और भी कई थियेटर खुले जिनमे गिरीशचन्द्र घोष का 'नेशनल थियेटर' (१८७०) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बंगाल मे रंगमंच ने एक ऊँचा स्तर बनाये रखा जिसने द्विजेन्द्रलाल राय तथा रवि ठाकुर जैसे नाटककार दिए; किन्तु इसी काल मे बम्बई मे व्यावसायिक थियेटर की जो नीव पड़ी, उसकी दिशा बिल्कुल भिन्न सिद्ध हुई। वैसे बम्बई मे भी १७७० मे जिस थियेटर की स्थापना हुई उसमें भी कलकत्ता की भाँति अंग्रेजो का हाथ था। उसकी प्रेरणा पाकर १८४२ मे जगन्नाथ शंकर शेट ने एक नाट्यशाला बनवाई जिसके फलस्वरूप रंगमंचीय गतिविधि को बढ़ावा मिला। कुछ समय तक साहित्यिक नाटक प्रदर्शित होते रहे; किन्तु बाद मे पारसी व्यवसायी मैदान में आये और सारा रंगमंच ही दूसरी दिशा मे चल पड़ा।

बम्बई मे पारसियों ने पहले दूसरों की देखा-देखी शौकिया तौर पर (१८५३ मे) नाटक खेलना शुरू किया; किन्तु बाद मे उन्होंने इसे व्यावसायिक रूप दे डाला जिसके फलस्वरूप सन् १८६१ तक कई नाटक अल्पजीवी कम्पनियाँ सामने आयी। इनमें जोरास्ट्रियन थियेट्रिकल क्लब (१८५८), विक्टोरिया नाटक कम्पनी (१८६८), पारसी ऐल्फिस्टन ड्रैमेटिक क्लब (१८७२), शुरू-शुरू की प्रसिद्ध कम्पनियाँ थी। बाद मे एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी (१८७१), पर्शियन जोरास्ट्रियम नाटक (१८७०), हिन्दी नाटक मंडली (—१८७३), ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक कम्पनी (१८७७), इंडियन इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी (१८८१), किर्लोस्कर नाटक मंडली, बिहार थियेट्रिकल ट्रुप

(१८८४), जुबिली थियेटर कम्पनी (१८८५), न्यू ऐल्फ्रेड कम्पनी (१८६०), पारसी ओरिजिनल ऑपेरा कम्पनी (१८६८), कोरोनेशन नाटक कम्नी (१६०३), पारसी थियेट्रिकल कम्पनी ग्रॉव बोम्बे (१६०३), दी पारसी नाटक मंडली (१६०३), शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी (१६०६), न्यू ऐल्बर्ट कम्पनी (१६१०), सूर विजय नाटक समाज (१६१४), व्याकुल भारत नाटक कम्पनी (१६२१), दि खटाऊ ऐल्फ्रेड कम्पनी (१६४२), कोरंथियन नाटक मंडली, मूनलाइट थियेटर्स (१६३६), पृथ्वी थियेटर्स (१६४४), मिनर्वा थियेटर्स (१६४६) ग्रादि कई कम्पनियाँ अस्तित्व में आयी। डॉ० चन्दूलाल दूबे ने अपनी पुस्तक हिन्दी रंगमंच का इतिहास में ५० से भी ग्रधिक पारसी हिन्दी नाटक कम्पनियों का विवरण दिया है। उनकी संख्या इससे भी अधिक रही हो तो कोई आश्चर्य की बात नही।

इसमें कोई सन्देह नही कि 'अन्य सब भाषाओं की अपेक्षा सबसे अधिक पारसी नाट्य-लेखन और उसका रंगमंच-प्रदर्शन हिन्दी भाषा में ही हुआ है। इसलिए हिन्दी भाषा, हिन्दी क्षेत्र और हिन्दी संस्कृति के सन्दर्भ में उसे पारसी हिन्दी रंगमंच और नाटक कहना ही अधिक युक्तिसंगत है।'[१] डॉ० लक्ष्मी-नारायण लाल के इन शब्दों में पर्याप्त औचित्य है। वस्तुतः पारसी रंगमंच हिन्दी क्षेत्र में सबसे अधिक फला-फूला और उसके प्रमुख नाटककार राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद 'बेताब', आगा हश्र (उन्होंने हिन्दी नाटक भी लिखे) ग्रादि नाटककार हिन्दी नाटककार ही थे। इसमें कोई सन्देह नही कि स्तर की बात जाने दें तो पारसी थियेटर के नाटककारों ने भारतीय संस्कृति के आदर्शों, या नाट्य पद्धति का अपने नाटकों में पूरा समाहार किया। भारतीय धार्मिक कथानकों, अतिप्राकृतिक प्रसंगों, पौराणिक आख्यानों तथा लौकिक प्रसंगों को लेकर पारसी रंगमंच पर रोमानी ही नही, पुनरुत्थानवादी, संस्कृति-प्रधान और राष्ट्रीय भावना से युक्त नाटक प्रस्तुत किए गये। 'कृष्णावतार', 'रुक्मिणी मंगल', 'श्रवण कुमार', 'महाभारत', 'वीर अभिमन्यु', 'भक्त प्रह्लाद', 'सती अनसूया', 'भक्त सूरदास', 'लैला मजनू', 'यहूदी की लड़की', 'खूबसूरत बला', 'रुस्तम सोहराब' ग्रादि नाट्य शीर्षकों से पारसी नाटकों की विषयवस्तु का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

पारसी रंगमंच को अपनी रंगशैली में अत्यन्त सम्पन्न कहा जा सकता है। उसमें सीधी सपाट कथावस्तु को सजाने-सँवारने के लिए मनोहारी दृश्यों की अवतारणा मिलती है। अंक की प्रभावशाली योजना के लिए उत्तरोत्तर चमत्कार-मूलक सम्वाद योजना पारसी रंगमंच की अपनी विशेषता है। संगीत और नृत्य के

१. डॉ० लाल : पारसी हिन्दी रंगमंच, पृ० १८

साथ-साथ मंच-सज्जा पर विशेष बल देने के कारण इसका प्रभाव भावपूर्ण होता है। जहाँ तक पारसी थियेटर की अभिनय शैली का सवाल है, इस पर शेक्सपियरीय अभिनय-शैली का प्रभाव मुख्य है। मंच पर दृश्यत्व को प्रधानता देना वह अपना कर्त्तव्य समझता था जिससे रंग-साधनों का प्रचुर प्रयोग हुआ, सीन और सीनरी की भरमार हुई, झाँकी या टैब्लो दृश्यों का समावेश हुआ और युद्ध के भारी-भरकम दृश्यों की योजना की गयी। कुल मिलाकर कोरस, हास्य और मनोरंजन सामग्री, गीत और नृत्य अंक के प्रारम्भ और अन्त में चौंकानेवाली दृश्य-योजना, रूप-सज्जा, भड़कीली वेशभूषा, अतिरंजित अभिनय पारसी थियेटर की अपनी विशेषता थी। पारसी थियेटर जनसाधारण की दृष्टि से बहुत ही लोकप्रिय रंगमंच था। प्रेक्षकों की भीड़ इन नाटकों को देखने के लिए टूट पड़ती थी और कभी-कभी 'उस जमाने में पच्चीस-पच्चीस रुपये में भी टिकट हाथ न आता था।'[1]

फिर भी इस रंगमच का हिन्दी वालों ने फायदा उठाने के बजाय, उससे नाक-भौंह सिकोड़ा जिसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि एक जीवंत और समृद्ध रंग-परम्परा दिशा-निर्देश के अभाव में भ्रष्ट होकर रह गयी। कहा जाता है कि १८७५ में जब विक्टोरिया नाटक-मंडली ने वाराणसी में शकुन्तला ऑपेरा प्रस्तुत किया तो राजा-महाराजाओं और रईसों की भीड़ उमड़ आयी थी।[2] इसी के अभिनय के सम्बन्ध में भारतेन्दु ने लिखा था : 'काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटककर नाचने और पतरी कमर बल खाय यह गाने लगा तो डा० थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।'[3]

वस्तुत. हिन्दी साहित्य सदा से शाकाहारी प्यूरिटनों के हाथ में रहा है। भारतेन्दु को ऐसा परहेज नहीं होता (व्यक्तिगत जीवन में वे रसिया थे) तो सम्भवतः हिन्दी रगमंच की आज यह स्थिति नहीं होती। यह ठीक है कि पारसी रंगमच परिष्कृत नहीं था, पर राधेश्याम कथावाचक और बेताब की तरह अगर भारतेंदु और उनके साथी आगे आते तो क्या पारसी रंगमंच एक सही दिशा न प्राप्त कर लेता ? पारसी रंगमंच ने प्रेक्षकों की एक भीड़ खड़ी कर ली थी, रंग-विधान का एक पूरा ढांचा तैयार कर लिया था। उसको एक

१ उपेन्द्रनाथ अश्क : भूमिका, नये खिलाड़ी, पृ० ११
२. काशी पत्रिका, भाग १, सख्या २, पृ० १६
३ भारतेन्दु ग्रथावली, पृ० ७५३

दिशा देने-भर की जरूरत थी। यदि ऐसा हो गया होता तो आज रंगमंच की स्थापना के लिए हिन्दी वालो को इतनी विवशता न झेलनी पड़ती।

सबसे विचित्र बात यह है कि जिस पारसी रंगमंच के नाटकों से भारतेन्दु और उनके सहयोगियों को परहेज था, स्वयं उनके अपने नाटक उन दोषों से युक्त थे। भारतेन्दु से लेकर प्रसाद तक पारसी रंगमंच की प्रवृत्तियों से ग्रस्त दिखाई देते हैं।[१] बाहर से पारसी नाटक का विरोध करने के बावजूद अन्दर से सभी उसकी प्रवृत्तियों से ग्रस्त थे। यह सत्य उस समय के प्रबुद्ध जनों से छिपा नही था। ललितकुमार सिंह 'नटवर' ने एक लेख मे ठीक ही लिखा था: 'हमारी अधिकांश नाटक समितियाँ पेशेवर पारसी स्टेजों की भद्दी नकल हैं।'[२] जब सब कुछ भद्दी नकल ही था, या नकल को छिपाने के लिए जब केवल भाषा के आभिजात्य का सहारा लिया गया था तो हिन्दी नाटककारों का दोष और भी बढ़ जाता है चाहे वे भारतेन्दु हों या प्रसाद।

यह हिन्दी नाटककारों की अव्यावहारिक और बड़प्पन वाली दृष्टि का परिचायक ही था कि उन्होंने पारसी रंगमंच और नाटक को थियेटर और ड्रामा का निचला दर्जा दिया और स्वयं ऐसे नाटक लिख डाले जिसमे रंगमंच की जरूरत ही न पड़े। पारसी रंगमंच के और हिन्दी नाटककारों के रंगमंच-विरहित नाटकों के कथ्य, कथावस्तु और चरित्र की तुलना की जाय तो यह स्पष्ट दीख पड़ेगा कि देश के पुनरुत्थान और अतीत गौरव का जो ठेका वे उठाने के लिए कटिबद्ध थे, राधेश्याम कथावाचक और बेताब जैसे पारसी रगमंच के नाटककार पहले से ही उस दायित्व को निभाते जा रहे थे। इस दृष्टि से भारतेंदु और प्रसाद ने कोई नया काम नही किया। पारसी रंगमंच का वे जब कथानक और रंगशिल्प मे अप्रत्यक्ष रूप से अनुकरण कर ही रहे थे, तो पूरे दिल से उसे स्वीकार कर वे उसे एक नया जीवन भी तो दे सकते थे। पर जिस हीन प्रवृत्ति ने हमारे देश को वर्गों और वर्णो, ऊँच और नीच में बाँटा है, उसी ने पारसी रंगमंच को हीन करार देकर छोड़ दिया। यह सदा से हमारे देश में उन लोगों का राष्ट्रीय चरित्र रहा है जो अपने को नियामक समझते रहे हैं।

इस प्रकार हिन्दी क्षेत्र में लोक नाट्य और पारसी रंगमच दोनों की समृद्ध परंपरा थी; किन्तु हिन्दी वाले उससे कुछ ग्रहण नही कर सके। कितनी बड़ी

१. देखिए मेरी पुस्तक 'प्रसाद के नाटक : स्वरूप और सरचना' पृ० २९३-३००
२. माधुरी, वैशाख, तुलसी सवत् ३०६ में 'हमारा रगमंच और अभिनय कला' लेख।

विडम्बना है कि एक दिन वह भी था जब लोग सिनेमा को थियेटर के सामने दो कौड़ी का मानते थे; कइयों की रातें थियेटर हॉलों में ही कटती थी।[1] बम्बई जैसे एक शहर में बारह-तेरह नाटकघर थे; कुल मिलाकर इतनी ही नाटक मंडलियाँ थी जो साथ मिलकर काम करतीं थी और जिस रात खेल होता था, उस रात सात-आठ हजार दर्शक जागरण करते थे। अगर कभी खास नाटक आ गया तब तो दो-तीन महीने पहले टिकट खरीद लेना पड़ता था।[2] और कहाँ आज का दिन कि हिन्दी वाले अपने रंगमंच के लिए तरस रहे है और सरकारी अनुदान की बड़ी-बड़ी रकमें डकार कर भी कोई कुछ नहीं कर पा रहा है। उपलब्धि के नाम पर अल्काजी के गले पड़ा नेशनल स्कूल ऑव ड्रामा नाम का ढोल है या फिर रवीन्द्र रंगशालाएँ है जिनमे कभी नाटक ही नहीं होते।

भारतेन्दु के मत्थे जो दोष हम मढ़ रहे हैं उसका परिहार कुछ इस रूप में हो जाता है कि पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया मे उन्होने एक समानान्तर अव्यावसायिक रंगमंच की शुरुआत करने का उपक्रम किया था। पारसी रंगमंच की ओछी रसिकता से विमुख होकर प्रबुद्ध जनों का एक सास्कृतिक रंगमंच की आवश्यकता को महसूस करना स्वाभाविक था। काशी को नये नाट्य और रंग-आंदोलन का श्रेय प्राप्त हुआ। विश्वनाथ सिंह के आनन्द रघुनन्दन, गोपालचंद्र के नहुष तथा शीतला प्रसाद त्रिपाठी के जानकी मंगल ने एक नयी परंपरा की आधारशिला डालने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। जानकी मंगल हिन्दी का पहला नाटक था जो शौकिया रंगमंच पर संवत् १६२५ वि० में खेला गया था। इसकी भूमिका ही रंग-जागरूकता का एक स्पष्ट सकेत देती है। इस नाटक में भारतेन्दु ने स्वयं लक्ष्मण के रूप मे अभिनय किया था। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि उन्होंने बलिया मे सत्य हरिश्चंद्र नाटक में हरिश्चंद्र का पार्ट खेला था।[3] उनके नाटकों में नील देवी, सत्य हरिश्चंद्र, तथा वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति नाटको का उनके जीवन काल मे ही आरंगण हो चुका था। उनके सहयोगियो मे कानपुर मे प्रतापनारायण मिश्र ने भी महत्त्वपूर्ण रंगकार्य किया था। वे स्त्री का पार्ट करते थे।[4] डॉ० चंदूलाल दूबे ने अकेले नागरी नाटक मंडली द्वारा अभिनीत नाटकों की संख्या १०८ तक गिनाई है[5] जिससे तत्कालीन रंगकार्य का कुछ आभास मिलता है।

१. अमृतलाल नागर का लेख, पृथ्वीराज कपूर अभिनंदन ग्रंथ, पृ० २६१
२. डॉ० डी० जी० व्यास का लेख, वहीं, पृ० २६६
३. कुँवरजी अग्रवाल का लेख, नटरंग, अंक ६, पृ० ४५
४. अमृतलाल नागर का लेख, पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० २६६
५. हिन्दी रंगमंच का इतिहास, पृ० २०३-२१२

यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि किसी रंग-आन्दोलन के प्रारम्भ होते ही कई नाटक मंडलियाँ अस्तित्व में आई। अकेली काशी में ही कवितावर्द्धिनी सभा (१८७०), नेशनल थियेटर (१८८४), जैन नाटक मंडली (१६०३), अग्रवाल बॉयज ड्रैमेटिक क्लब (१६०४) आदि कई नाटक मंडलियों का आविर्भाव हो चुका था। जिन नाटक-मंडलियों ने बाद में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, उनमे श्री नागरी नाट्य कला संगीत मंडली (१६०७) नागरी नाटक मंडली (१६०६), भारतेन्दु नाटक मंडली (१६०६) आदि उल्लेखनीय है। इन मंडलियो की स्थापना मे भारतेन्दु, उनके सहयोगियों और परिवार के लोगों का मुख्य हाथ था। जो नाटक खेले गए उनमें भारतेन्दु के नाटक तो थे ही, उनके अतिरिक्त राधाकृष्ण दास का महाराणा प्रताप, द्विजेन्द्र लाल राय का दुर्गादास, प्रसाद का स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त आदि उल्लेखनीय है।

वाराणसी की भाँति ही प्रयाग भी नाट्यकला का प्रमुख केन्द्र रहा है। वहाँ की आर्य नाट्य सभा को बहुत पुरानी नाट्य संस्था माना जाता है जिसने श्रीनिवास दास के रणधीर प्रेम मोहिनी तथा शीतलाप्रसाद त्रिपाठी के जानकी मंगल का मचन किया था। प्रयाग की प्रमुख सस्थाओं मे रामलीला नाटक मडली (१८६८-१६०७) उल्लेखनीय है, जिसकी स्थापना माधव शुक्ल और उनके साथियों ने की थी। उन्ही के प्रयत्न से १६०० ई० मे नाट्य समिति की स्थापना हुई थी जिसने हिन्दी सम्मेलन के द्वितीय, पंचम और षष्ठ अधिवेशन के अवसर पर क्रमश. १६११, १६१४, १६१५ मे महाराणा प्रताप, सत्य हरिश्चद्र तथा महाभारत का अभिनय किया था। कहा जाता है कि इस समिति ने मुद्राराक्षस का मंचन किया था जिसमे बालकृष्ण भट्ट ने अभिनय किया था। महाराणा प्रताप का भी इस समिति ने मंचन किया था जिसमे श्री बाल गगाधर तिलक उपस्थित हुए थे।[1]

बालकृष्ण भट्ट ने नागरी प्रवर्द्धिनी सभा की स्थापना की जो विजयादशमी के अवसर पर प्राय: मालवीय जी के निवास पर कोई न कोई नाटक खेलती थी। कहते हैं एक बार स्वयं मालवीय जी ने शकुन्तला का अभिनय किया था और पुरुषोत्तमदास टडन भी किसी भूमिका मे उतरे थे।[2]

प्रयाग की भाँति ही लखनऊ मे माधव शुक्ल की प्रेरणा से हिन्दू यूनियन क्लब की स्थापना हुई थी। इसी प्रकार कानपुर में भारतेन्दु मंडल (१८७६), भारत ऐण्टरटेनमेण्ट क्लब (१८८५), भारत मनोरंजनी सभा (१८८७),

१. कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह : हिन्दी नाट्य साहित्य और रगमच की मीमासा, पृ० ३५४-५५
२. वही, पृ० ३५७-५८

एम० ए० क्लब (१८८८), एम० बी० क्लब (१८८७) आदि रंग-संस्थाएँ इस काल मे सक्रिय रही। बलिया, आगरा, मथुरा, जबलपुर, इन्दौर, आरा आदि कई अन्य क्षेत्रों मे भी रंगमंचीय गतिविधियो का जोर रहा है।

दुर्भाग्य से इतना विशाल आन्दोलन भारतेन्दु की मृत्यु के बाद एकदम समाप्त हो गया। जैसे 'नाटकविद्या को तो कदाचित् बाबू साहब अपने ही संग ले गये हो' ऐसा किशोरीलाल गोस्वामी को लगता रहा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।[1] महावीर प्रसाद द्विवेदी नाट्यशास्त्र लिखकर भारतेन्दु की परम्परा का निर्वाह अवश्य करना चाहा, पर वे हिन्दी नाट्य और रंग-परम्परा को कोई दिशा नही दे सके। फलत: एक बार फिर 'नाटक किस चिड़िया का नाम है' हो गया। इस युग में भी एक ओर पारसी रंगमंच और दूसरी ओर हिन्दी का अव्यवसायी रंगमच काशी, प्रयाग आदि स्थानो मे सक्रिय रहा, पर सारी परम्परा सक्रिय नेतृत्व के अभाव मे छिन्न होकर रह गयी। नाटक फिर भी लिखे जाते रहे। प्रसाद ने पर्याप्त संख्या मे नाटक लिखे पर वे व्यावहारिक रंगमंच से नही जुड़ पाए। और फिर प्रसाद ही नहीं, लक्ष्मीनारायण मिश्र, गोविन्द वल्लभ पन्त, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट आदि प्रसादोत्तर हिन्दी नाटककार भी अपने लिए रंगमंच पैदा नही कर सके जबकि इस पूरे काल में पारसी थियेटर अपनी व्यावसायिकता के साथ जी रहा है। प्रसाद और उनके बाद जो नाटककार आए, वे रंगमंच का नाम तो लेते थे, पर उसके प्रति जागरूक नही रहे। लक्ष्मी-नारायण मिश्र के पास बुद्धिवादी होने का अहसास रहा, जिसका वे ढिंढोरा भी पीटते रहे, किन्तु यही वैचारिकता उनके नाटकों में 'शब्दों के रंगमंच' को उजागर करती है। उनके नाटको का रचना विधान रंगीय न होकर पाठ्य नाटको का जैसा है। उनमे ऐसे रंग-संकेतों का प्राधान्य है जो दृश्य सज्जा की अपेक्षा केवल पढने के लिए लिखे गये लगते हैं। उनके चरित्र केवल विचारों के लिए अवतरित हुए हैं और संवाद केवल वकालत करते हैं। अन्य लोगों मे प्रेमी और गोविन्ददास के नाटकों मे नाट्य और रंगतत्व का अभाव है।

जगदीशचन्द्र माथुर, अश्क आदि के साथ रंग-कार्य को प्रोत्साहन अवश्य मिला किन्तु व्यावहारिक रगमंच की शून्यता फिर भी बनी रही। स्वतन्त्रता सग्राम के दिनों पृथ्वी थियेटर्स (१९४४), इप्टा (१९४२) आदि कई रग-संस्थाएँ सक्रिय रहीं; किन्तु रंगमंचीय गतिविधि का सही अहसास स्वतन्त्रता के बाद ही हुआ। स्वतन्त्रता के बाद देश मे एक जो नई सास्कृतिक चेतना लौटी, उससे दिल्ली, इलाहाबाद, लखनऊ, बम्बई, कानपुर आदि नगरो में बीसियों रग-सस्थाएँ उभर आई। इनमे नेशनल स्कूल ऑव ड्रामा ने इब्राहिम अल्काजी

१. किशोरी लाल गोस्वामी के 'चोपट चपेट' का एक सवाद

के नेतृत्व में रंगमंचीय जागरूकता लाने में महत्त्वपूर्ण कार्य कर दिखाया। उसके साथ ही प्रयाग की नाट्य केन्द्र (१९५०), प्रयाग रंगमंच (१९६१), लखनऊ की नटराज (१९५६), भारती (१९५८), कानपुर की दर्पण, दिल्ली की थ्री आर्ट्स क्लब (१९४३), लिटिल थियेटर ग्रुप (१९४६), अभियान, नया थियेटर (१९७०), हिन्दुस्तानी थियेटर, यात्रिक, दिशान्तर (१९६५), इन्द्रप्रस्थ थियेटर (१९६६), बम्बई की थियेटर यूनिट (१९६२), इप्टा (१९४२) तथा कलकत्ते की अनामिका (१९५५) आदि रंग संस्थाओं ने देश को एक रंग-आन्दोलन की गिरफ्त में लाने के लिए सशक्त प्रयास किए। इस रंग-आन्दोलन में अल्काजी, सत्यदेव दुबे, श्यामानन्द जालान, सत्यव्रत सिन्हा, ओम शिवपुरी, ब्रजमोहन शाह, लक्ष्मीनारायण लाल, हबीब तनवीर, आर० जी० आनन्द, सई परांजपे, कुदसिया जैदी, राजिन्दर नाथ आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसके साथ ही अनेक रंगकर्मियों की एक लम्बी पाँत खड़ी हुई।

इसके बावजूद भी आज हिन्दी रंगमंच के सामने एक बड़ा-सा शून्य मुँह बाये खड़ा है। अभी भी हिन्दी रंगमंच अपनी इयत्ता नहीं स्थापित कर पाया। जो कुछ जागरूक रंग-कार्य हुआ है या हो रहा है, वह सुसंगठित नहीं है। एक अजीब बिखराव और आधारहीनता के बीच हिन्दी रंगमंच किसी तरह उखड़ी साँसों को जुटा पा रहा है। एक ओर संस्कृत रंगमंच की परम्परा खत्म हो चुकी है, साथ ही पारसी रंगमंच को हिन्दी वालों ने मुँह लगाने की जरूरत नहीं समझी और लोक की धरती से लगाव न होने के कारण लोक-मंच से भी उसने कभी सरोकार नहीं रखा। हिन्दी रंगमंच आज उन नाटकों और रंगकार्य पर निर्भर है जिनमें पाश्चात्य रंगमंचीय ज्ञान को बघारा जाता है। इस तरह उसकी अपनी जड़ें न होने के कारण वह हवा में झूल रहा है। बीसियों बार उसकी आधार-शिला डाली जाती है और बीसियों बार उसके नींव के पत्थर खिसक जाते हैं।

इसका मुख्य कारण यह है कि रंगकर्मियों का एक वर्ग ऐसा है जो हिन्दी नाटक खेलने के बजाय हिन्दी वालों के लिए नाटक खेलने में अपनी इज्जत समझता है। उनकी नजरों में हिन्दी में नाटक है ही नहीं, जो हैं उन्हें वे घटिया करार देने में नहीं हिचकते। कुछ गिने-चुने लोगों को मान्यता मिलती भी है तो उनके पीछे दुम हिलाने, नाटकों को समर्पित करने, भूमिका लिखवाने पर। अन्यथा हिन्दी के रंगमंच पर विजय तेन्दुलकर, मधुराय, विनायक पुरोहित, गिरीश कर्नाड, आद्य रंगाचार्य, मोहित चैटर्जी, खानोलकर, बादल सरकार के नाटकों के हिन्दी अनुवाद ही शोभा बढ़ाते मिलते हैं। हमें इन नाटककारों

के नाटको के मंचन से कोई विरोध नही; पर यदि हिन्दी का रंगमंच खड़ा करना है तो कोई भी अनुवादो से हिन्दी का रंगमंच खड़ा नही कर पायेगा, चाहे वह अलकाजी हों या कोई और। हिन्दी रंगमंच की सुदृढ़ता के लिए हिन्दी नाटक—चाहे वे कितने ही 'घटिया' क्यों न हों,—खेले जाएँ, यह बहुत जरूरी है। हिन्दी मे भी भारतेन्दु, प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, लाल, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, मुद्राराक्षस, सुरेन्द्र वर्मा, रमेश वक्षी, मणिमधुकर—एकदम इतने गये-बीते नाटककार नही हैं कि अनुवादों को प्रस्तुत कर उनके मन मे हीनता की ग्रंथि पैदा कर दी जाय। इसमें कोई सन्देह नही कि अनुवादों के मचन से हिन्दी नाट्य लेखन में स्फूर्ति आई है। किन्तु हिन्दी नाटककारों को आप ऊपर उठने के लिए जरूर हांक मारिए, पर उसको जान से मत मार डालिए।

इसके साथ ही अभी हिन्दी नाटककार को भी अपने लिए सही दिशा को चुनना होगा। आज हिन्दी के नये नाटक को देखकर वितृष्णा होने लगी है। वह या तो अधिकाधिक रूपवादी हो रहा है (सामाजिकता पर पर्दा डालने के लिए) या फिर पश्चिम के नाटको की नकल पर आरोपित विसंगतियो से हवा में जूझ रहा है। हिन्दी क्या, समस्त भारतीय नाटक इस दुर्दशा को प्राप्त होने जा रहा है। देखादेखी सुरेन्द्र वर्मा, मुद्राराक्षस, रमेश वक्षी क्या कर रहे हैं? नवीनता के नाम पर थोथे सेक्स और दाम्पत्य जीवन की वैयक्तिक विसंगतियाँ हिन्दी नाटक को कितनी दूर तक आगे ले जायेंगी, यह नहीं कहा जा सकता। सारे आधुनिकता बोध के बावजूद भी नाटक लिखना आज स्टंट हो गया है। कितने दुर्भाग्य की बात है कि जो नाटककार मानसिक रूप से सारे पश्चिम की परम्परा मे जीता है, उसे अपना ही घर, अपना ही समाज और उसकी समस्याएँ नजर नही आती। असल मे आज हिन्दी मे वे नाटककार नहीं हैं या कम है जो अपनी धरती और अपने रंग-बोध से जुड़े हों। हिन्दी नाटककार को थोडी और ईमानदारी से जन-जीवन का प्रतिनिधि बनकर भारत के जातीय जीवन मे गहराई से रोपी गयी रंग-परम्पराओं का वाहक होना पडेगा।

हिन्दी रगमंच सही रूप मे एक राष्ट्रीय रंगमंच के रूप में खड़ा करने के लिए इतना ही काफी नही कि हम पश्चिम की नकल पर नाटक लिखें या लोगो को चकाचौंध करने के लिए सरकारी खर्चे पर बडा तामझाम जुटाकर दिखाएँ—लो हिन्दी वालो, नाटक ऐसे खेले जाते है। हिन्दी नाटककार को अपने मंच के लिए स्वयं नाटक लिखने चाहिए और उसे कुछेक प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए नहीं, लाखों-करोडों व्यक्तियों के लिए लिखना चाहिए। हिन्दी नाटक के परिचालकों को चाहिए कि वे सौ-दो सौ सीटों वाले हॉलो मे नाटक खेलने के बजाय गलियों-चौराहों, पार्कों मे बडे-बडे खुले और अनलंकृत मचों की तलाश

करें। इसके साथ ही हिन्दी नाटककार और रंगकर्मी को जन-साधारण को लेकर अपने लक्ष्य निर्धारित करने होंगे। जनता के सहयोग के लिए उन्हें जनता के बीच जाना होगा। इस समय देश कुछ नये को जन्म देने के लिए एक प्रसव-पीड़ा के बीच से गुजर रहा है—उसकी नियति के निर्माण के लिए नाटक और रंगमंच दोनों को अपनी सकारात्मक भूमिका निभानी है। उसे शक्ति का परिचायक होना चाहिए—ऐसा जो केवल भौतिक जीवन को ही स्फूर्ति न दे वरन् आत्मा, भावना और चिन्तन की गहराइयों का स्पर्श करे। रंगमंच केवल थकान उतारने की जगह न बने, वरन् लोगों का साथी और हमदर्द बने; उसके जीवन को नया आलोक दे, प्रतिक्रियाएँ जगाए। वस्तुतः कोरा उपदेश देने और थोथा मनोरंजन करने के बीच ऐसी न जाने कितनी अन्तरवर्ती स्थितियाँ हैं जिनमें वह कई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है।

दुर्भाग्य से हिन्दी का रंगमंच नियमित नहीं है। साल-भर में जाड़ों में कुछ नाटक हो जाते हैं और सारा रंगकार्य कुछ लोगों तक सीमित होकर रह जाता है। सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि हम पश्चिम की रंगोपलब्धियों से आतंकित हैं। बात हम हिन्दी रंगमंच की करते हैं और जाप पश्चिमी रंगमंच का। सवाल एक सांस्कृतिक दृष्टि का है। मोहन राकेश ने ठीक ही कहा है कि 'हिन्दी रंगमंच को हिन्दी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतीक बनना होगा। हमारा रंगों और राशियों का विवेक नये रंगमंच की सज्जा को बल देगा। हमारे दैनंदिन जीवन के रागरंग को प्रस्तुत करने के लिए, हमारे ब्याह-त्योहारों के स्पंदनों को आकार देने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य शैली के रंगमंच से कहीं अधिक खुला होना चाहिए।'[१] भारतीय जीवन के सांस्कृतिक पक्षों को ही नहीं, हिन्दी रंगमंच को भारतीय लोक-मंच तथा संस्कृत रंगमंच की जीवित प्रवृत्तियों का भी समाहार करना चाहिए। हिन्दी रंगमंच अभी विकसित नहीं हो पाया है, उसका एक कारण यह भी है कि हम उसे अपनी कालजयी प्राचीन परम्परा और गतिशील नवीन जीवनगत स्थितियों से नहीं जोड़ पाए। रंग की परम्परा हिन्दी क्षेत्र में नहीं रही; भारतेन्दु और पारसी थियेटर के प्रयास से जो एक समा बँधा था, उसे हम सहेज नहीं पाए और अब बरसों के व्यवधान के बाद उसकी जड़ें रोप पाना कठिन होता जा रहा है। अब रंगमंच के विकास के लिए ऐसी स्थिति में, जैसा कि डॉ० सुरेश अवस्थी ने लिखा है, दो स्तरों पर कार्य आवश्यक है : "एक तो परम्परा के प्रति जागरूक आस्था और उसका अन्वेषण और दूसरे,

१. मोहन राकेश साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि, पृ० १०१

आधुनिकता का अधिक सच्चा और प्रखर बोध।'[1]

यह भी आज सहसा भुलाया नहीं जा सकता कि हिन्दी क्षेत्र मे इस स्तर पर भी एक तलाश शुरू हो चुकी है। हिन्दी रंगमंच अब दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता जैसे महानगरो की ऊँची दीवालों को फांदकर छोटे शहरों और कस्बों में चला आया है और धीरे-धीरे वहाँ वह अपना अस्तित्व बनाता जा रहा है। नाट्य लेखन मे अब अधिक नाम जुड़ते जा रहे हैं। एक समय आ सकता है जब उधार के रंगकर्मियों, नाटककारों और प्रेक्षकों से उबरकर हिन्दी रंगमंच अपनी मर्यादा स्वयं वहन करेगा। इन्ही अनुमानों पर कुछ आशाएँ बांधना बुरा नही है जैसा कि डॉ० सुरेश अवस्थी का कहना है : 'वर्तमान स्थिति मे हिन्दी रंगमंच ही राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात है। हिन्दी का आधार और क्षेत्र व्यापक है। हिन्दी मे रूढ़ परम्पराओं का बोलबाला नही। सभी भारतीय भाषाओं से उसका सीधा सम्बन्ध बनता जा रहा है। सारे देश की चेतना को व्यक्त करने की इसी में चेतना है। यह ठीक है कि विभिन्न भारतीय भाषाओ की दृष्टि से हिन्दी रंगमंच को तीसरा या चौथा स्थान देना पड़े, किन्तु राष्ट्रीय रंगमंच की जरूरतों को पूरी करने वाली सम्भावनाएँ तक हिन्दी रंगमंच में ही हैं।'[2] देखना है इन सम्भावनाओं तक हिन्दी रंगमंच कब पहुँचता है ! और मैं सोच रहा हूँ हिन्दी रंगमंच शब्द के आगे डैश लगाऊँ, या कौमा, पूर्णविराम, प्रश्नवाचक या विस्मयादिबोधक चिह्नों में किसे लगाऊँ !

१. नटरंग, अंक ६, पृ० ५४
२. डा० सुरेश अवस्थी का लेख, आलोचना, भाग ३, अंक ३५, पृ० ४५

हमारी नाट्य समीक्षा और रंगमंच

१२

हिन्दी रंगमच के विकास में एक बहुत बड़ी बाधा हमारी नाट्य-समीक्षा भी रही है। भारतेन्दु ने जब नाटक निबन्ध लिखा था तब सारा परिवेश रंगमचीय था। उनके सहयोगियों मे बालकृष्ण भट्ट, प्रेमनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा लाला श्रीनिवास दास ने जब अपने नाटको की भूमिकाओं मे लम्बी-लम्बी समीक्षाएँ लिखी थी, तब भी उनकी दृष्टि रंगमंच पर ही थी। प्रेमघन सम्भवतः अकेले व्यक्ति थे जिनमें पारसी रंगमंच की अच्छाइयाँ स्वीकार करने की क्षमता थी : 'इनके पर्दे और नाट्यालय की सजावट के साज सुन्दर और सजीले, अभिनय के चारों गुणों से युक्त पात्र और उनकी समस्त प्रकार की बानक, हाव-भाव और कटाक्ष कहाँ तक गिनावें सभी अच्छा है, केवल भाषा अच्छी तरह साफ और शुद्ध नही।'[1] नाटक और रंगमंच के समन्वय पर उनकी दृष्टि विशेष थी : 'निश्चय जानिए कि एक-एक मिल तब इग्यारह की संख्या प्राप्त करते है, केवल बनाने वाला तब तक क्या करेगा जब खेलने वाला ठीक नही।'[2] प्रेमघन को पारसी रंगमंच की भाषा पसन्द नहीं थी, किन्तु लाला श्रीनिवास दास को दूसरी ओर संस्कृत गर्भित संवाद पसन्द नही थे। रणधीर प्रेम मोहिनी के निवेदन मे इसीलिए उन्होने बोलचाल की भाषा का समर्थन किया। उन्होंने अपने इस नाटक की भूमिका में अभिनय के लिए संकेत भी प्रस्तुत किये थे। बालकृष्ण भट्ट ने अपने शिक्षा-दान नाटक, संसार महानाट्यकाल शीर्षक लेख और हिन्दी प्रदीप मे प्रकाशित नीलदेवी और संयोगिता स्वयंवर की समीक्षाओ में अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। उन्ही की भाँति ही किशोरीलाल गोस्वामी, देवीप्रसाद राय पूर्ण, राधाकृष्णदास, काशीनाथ खत्री आदि नाटककारों ने नाटक

१ प्रेमघन सर्वस्व, पृ० २६

२. आनन्द कादम्बिनी, भाद्रपद सम्वत् १९४२ वि०, पृ० ४

ही नहीं लिखे, वरन् नाटक के साहित्यिक और रंगमंचीय स्वरूप दोनों को ध्यान में रखकर नाट्य समीक्षाएँ भी प्रस्तुत कीं।[1]

हमारी हिन्दी नाट्य-समीक्षा की शुरुआत एक जीवन्त परिवेश में हुई थी। पश्चिम में भी अरस्तू, होरेस, क्विन्तिलियन, गैलियस आदि के बाद फ्रान्स, जर्मनी और इंग्लैण्ड में नाट्य समीक्षाओं का जो दौर चला, वह जीवन्तता से परिपूर्ण रहा। एक जमाने में नेओ-क्लासिस्म के विरुद्ध जर्मनी में काफी विवाद चला; स्वच्छन्दतावाद आया तो नाट्य-समीक्षा नये चिन्तन के साथ जूझती हुई आगे आयी। इसी समय विलियम हैज़लिट ने मार्निंग क्रॉनिकल पत्र में अभिनीत नाटकों की आलोचना प्रारम्भ की। यथार्थवाद के उदय के साथ उसने नये हथियार अपनाये जिनसे इब्सेन ने अपने आलोचक फासिस के सारसे का मुँह ही बन्द कर दिया। ज़ोला, स्ट्रिंडबर्ग, पिरांदेलो, मेटरलिंक, शॉ आयनेस्को आदि असंख्य नाटककार और दूसरी ओर स्तानिस्लावस्की, मेयर होल्ड, तैरोव, ब्रेख्त, जोन्स, क्रेग, अप्पिया, रेनहार्ट आदि रंगकर्मियों नाट्य समीक्षा की अपनी दृष्टि लेकर अवतरित हुए जिससे नाट्य समीक्षकों को एक सही दिशा मिल सकी।

दुर्भाग्य से नाटकीय गतिविधि के अभाव में हमारी नाट्य-समीक्षा को ऐसा सम्बल नहीं प्राप्त हो सका। हमारे यहाँ भरत का नाट्यशास्त्र नाट्य-समीक्षा की एक समृद्ध परम्परा का द्योतक अवश्य है किन्तु तदनन्तर अभिनव भारती के बाद जो भी ग्रन्थ लिखे गये, उनमें पिष्टपेषण ही अधिक हुआ है। भारतेन्दु ने उस परम्परा को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न अवश्य किया था; परन्तु उनके युग की जीवन्त परम्परा बहुत आगे तक नहीं जा सकी। भारतेन्दु युग के रंग और नाट्य के वातावरण के समाप्त होते ही नाटक पाठ्य होकर रह गये और उन पर जो समीक्षाएँ लिखी गयीं वे विश्वविद्यालय के छात्रों को पढ़ने या पढ़ाने के उद्देश्य से ही मुख्यतः प्रेरित रहीं। इस प्रकार हिन्दी नाट्य-समीक्षा अपने दूसरे दौर में रूपक रहस्य और साहित्यालोचन से होती हुई रंगमंच के अज्ञानवर्मी हिन्दी अध्यापकों के हाथों में आ गयी। वहीं से उसकी दुर्दशा प्रारम्भ होनी शुरू हुई। फिर शास्त्रीय अध्ययनों और शोध की परम्परा का युग प्रारम्भ हुआ और विद्वान् डाक्टरों ने नाट्य-समीक्षा का कचूमर निकालकर रख दिया। दुर्भाग्य से इसी काल में प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन प्रकाश में आया। शास्त्रीय अध्ययन के नाम पर इस समीक्षा-कृति में प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक आधार ही अधिक चित्रित हुआ है जो बच रहा, उसमें उन्होंने कार्यावस्थाओं, सन्धियों, अर्थ-प्रकृतियों, रस, देशकाल आदि की तलाश की। इस

१. विस्तार के लिए देखिए : निर्मला हेमन्त लिखित 'आधुनिक हिन्दी नाट्यकारों के नाट्य सिद्धान्त', पृ० ७०-१८०

प्रकार प्रसाद जैसे स्वच्छन्दतावादी नाटककार के कृतित्व में, जिसने बहुत-सी नाट्यशास्त्रीय रूढ़ियों को तोड़ने का प्रयास किया, शोधकर्त्ता ने उन सबको आरोपित कर दिखाया और समग्र नाट्य कृति को उजागर करने के बजाय वर्गीकरण मूलक खाने-दराजों वाली नाट्य-समीक्षा को जन्म दिया। उसको आधार मानकर बाद में ढेरों ऐसी नाटय-समीक्षाएँ लिखी गयी जिसमे कथावस्तु विवेचन, चरित्र सृष्टि और नाट्य-शिल्प निरूपण के स्थान पर कथासार, चरित्र-चित्रण आदि करके इतिश्री मान ली गयी।

अगर यहीं तक बात रुक गयी होती तो खैर थी। विश्वविद्यालयों मे नाटक के क्षेत्र में घनघोर शोधकार्य शुरु हुआ। फिर तो कई प्रकार की नाट्य-समीक्षाएँ लिखी गयी। शास्त्रीय अध्ययन से लेकर तुलनात्मक अध्ययन, नायक-नायिका की परिकल्पना, चरित्र-चित्रण, हास्य, नियति, नैतिकता, युग-बोध, शिल्प-विधि, ऐतिहासिकता, पाश्चात्य प्रभाव तक। शास्त्रीय अध्ययन की सबसे बड़ी विडम्बना यह रही है कि शास्त्र का आरोप वहाँ भी किया है जहाँ शास्त्रीय रचना-विधान का सर्वथा अभाव है। नाटक की समग्र आत्मा की तह तक पहुँचने के बजाय समीक्षकों का ध्यान स्थूल तथ्यो पर ही अधिक रहा है। रंगमंचीय दृष्टि के अभाव मे सारे अध्ययन एकेडेमिक प्रवृत्ति से इतने ग्रस्त दिखाई देते हैं कि उनको पढकर नाट्य-प्रवृत्तियो का कही आभास ही नही मिलता। सबसे बडी विडम्बना इन अध्ययनो मे दिखाई देती है जो कुछ सिद्ध करने की दृष्टि से लिखे गये हैं। हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव को आँकने का प्रयास दो-दो थीसिसों में हुआ, पर प्रभाव के लिए जो स्थूल आधार ढूँढे गये हैं उनको देखते हुए हिन्दी-नाट्य-समीक्षा का दिवालियापन नजर आता है। इधर एक लेखक या दूसरे लेखक के नाटको या एक भाषा और दूसरी भाषा के नाटको की तुलना की प्रवृत्ति चल पडी है। मुझे उस तुलना में कोई औचित्य नही लगता जहाँ तुलना के लिए आधार ही नही। इसके कई भद्दे उदाहरण सामने आये हैं।

शोध-सम्बन्धी इस नाट्य-समीक्षा की दुर्दशा के कारण वे लोग भी है जो साहित्य और व्यवसाय मे सौदेबाजी के साथ आते है। ऐसे लोग समीक्षा को उखाड़-पछाड का साधन मानते हैं, पर उनमे न ज्ञान के प्रति ईमानदारी है और न साहित्य के प्रति निष्ठा। इसी के कारण समीक्षा कृतिकार और समीक्षक के बीच लेन-देन और समझौता के प्रतीक बनकर रह गयी। एक विचित्र विरोधाभास यह है कि एक ओर अच्छे नाटककार स्वीकृति पाये बिना ही मर जाते हैं, दूसरी ओर सेठ गोविन्ददास जैसे सामान्य लेखक एक महान् नाटककार के रूप मे वर्षों तक हमारे बीच जीवित रहे। कोई भी व्यक्ति नाटकीय प्रतिभा के अभाव मे ही कितना ऊँचा उठ सकता है, इसका ज्वलन्त उदाहरण सेठ गोविन्द-

दास रहे हैं और इसका श्रेय हिन्दी के स्वनामधन्य समीक्षक को ही है।

हिन्दी में ऐसे समीक्षक भी हैं जो कोशों, संकलनों, सम्पादनों का काम बखूबी कर रहे हैं। हिन्दी वाले उन्हें नाटकों का विशेषज्ञ मानकर पूजते भी रहेंगे; पर ऐसे लोग अधिक हैं जिनकी नाट्य-समीक्षा केवल कथासार और चरित्र-चित्रण से कभी आगे नहीं बढ़ी।

विश्वविद्यालयी समीक्षक की सबसे बड़ी सीमा यह होती है कि वह नाटक को साहित्य मात्र समझकर चलता है और उसे रंगमंच से जोड़ने की आवश्यकता वह नहीं समझता। फिर वह अपनी समीक्षा में टीका, वर्गीकरण पद्धति का आश्रय लेता है। उसे जो कुछ भी कहना होता है वह एक शीर्षक और उप-शीर्षक में कहे बिना चैन नहीं पड़ता। यहाँ तक कि अपनी आखिरी बात भी वह 'निष्कर्ष' उपशीर्षक देकर कहता है। जितने भी शोध हुई हैं उसकी शैली देखते हुए स्पष्ट हो जाता है कि एक फॉर्मूला पहले से बना दिया जाता है—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, देशकाल, भाषा, शैली, नाटक की आत्मा, नाट्य प्रयोजन, नाटक के भेद—और फिर उस फॉर्मूले को किसी भी नाटक पर फिट कर दिया जाता है। इस तरह सारा शोध या तो चौखटे में बँध गया है या फिर पूर्वग्रहों और वैयक्तिक रुचियों के दायरे में फँस गया है। समीक्षक यह भूल जाते हैं कि नाट्यशास्त्र को पढ़कर कोई नाटककार नाटक नहीं लिखता। कोई भी नाट्यकृति अपने साथ ही अपना रचना-विधान लेकर जन्म लेती है और एक नाटक और दूसरे नाटक की संरचना में उतना ही अन्तर होता है जितना एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति में। जो समीक्षा नाटक के बाह्य शरीर मात्र को टटोले, उसके हाथ-पाँवों को तो गिनाए, पर उसके प्राणों के स्पन्दन की पहचान न करा सके, उससे कोई लाभ नहीं।

हिन्दी का यह समीक्षक एक ओर नैतिकतावादी बनता है, दूसरी ओर यथार्थवादी। नैतिकतावादी बनकर वह नाटकीय पात्रों के चरित्र-चित्रण में—खासकर ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में—चारित्रिक विघटन को बरदाश्त नहीं कर पाता। इसीलिए मोहन राकेश के *आषाढ़ का एक दिन* में चित्रित कालिदास पर समीक्षकों को सन्तोष नहीं हुआ और नाटककार पर कीचड़ उछाला गया। उसे विवश होकर अपने दूसरे नाटक की भूमिका में उसे उसकी सफ़ाई करनी पड़ी। जगदीशचन्द्र माथुर ने प्रसाद के *चन्द्रगुप्त* के पात्रों के सम्बन्ध में की गयी समीक्षा का हवाला देते हुए ठीक लिखा है : 'कुछ समीक्षाओं में नाटक के आदर्शोन्मुखी पात्र में कालिमा की स्थिति को लेखक का दोष ठहराया जाता है कि पोरस जैसे उदात्त पात्र को प्रसाद ने बाद के अंकों में स्वार्थी और विलासी दिखाया है। यह नाटककार का दोष नहीं, बल्कि उसकी सूक्ष्म दृष्टि का सबूत है। अनेक समीक्षाओं में मैंने पात्रों के स्तवन की प्रवृत्ति देखी है।

समीक्षक पात्रों के शील के स्थायी बिन्दु खोजते हैं और यह दिखाना चाहते हैं कि हर परिस्थिति में पात्र उन्हीं बिन्दुओं के चारों ओर घूमता है, किन्तु ऐसा हमेशा नहीं होता।'[1]

इस सब के बावजूद भी वह यथार्थवाद की बात करता है। नाट्य समीक्षा को यथार्थवाद की मिथ्या धारणा से जितनी हानि हुई है उतनी किसी से नहीं। हिन्दी समीक्षक अपनी सारी भारतीय नाट्य परम्परा को ताक पर रखकर नाटक को जीवन की यथातथ्य अनुकृति मान लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि चरित्र-चित्रण, कथावस्तु संघटन और रंग प्रदर्शन मे वह नाट्यधर्मी रूढ़ियों को न पहचान पाने के कारण अस्वाभाविकता की बात करने लगता है। सचाई यह है कि नाटक जीवन की अनुकृति नहीं है, जीवन के प्रति एक दृष्टि है। पश्चिम में यथार्थवाद की प्रतिक्रिया मे अनेक प्रकार के चिन्तन उभरे हैं। हिन्दी समीक्षक उनसे और अपने भारतीय नाट्य चिंतन से अवगत हुए बिना समीक्षा के सही मानदंडों तक नहीं पहुँच सकता। इस असमर्थता के कारण आज हिन्दी समीक्षक, शोधार्थी और शोध के विशेषज्ञ सत्रहवीं-अठारहवीं शती मे ही रह रहे है।

नाट्य समीक्षकों का एक दूसरा वर्ग है जो विश्वविद्यालय की दुनिया से बाहर है। उसके पास नयी दृष्टि है—उसमें नाटक और रंगमंच के समन्वय की सन्तुलित विचारधारा है। पर उसमे भी जोड़-तोड़ अधिक है, साहित्यिक ईमान-दारी कम। अपने चारों तरफ वैदूष्य की हवा बाँधना, समीक्षक बनने के बजाय समीक्षकों का नेतृत्व करना उनका लक्ष्य होता है। ऐसे ही समीक्षकों मे एक समीक्षक है जो नाटक के माहिर माने जाते हैं; किन्तु उनके माहिर होने का एक प्रमाण यह है कि उनकी थीसिस को आज भी २०-२५ साल से एक प्रकाशक के यहाँ बिना छपे ही दीमक चाट रहे हैं। उनकी विद्वत्ता के वाहक वे छिटपुट निबन्ध हैं जो उन्होंने कभी पत्र-पत्रिकाओं, संकलन ग्रंथों या भूमिकाओं के लिए लिखे हैं। इतनी सस्ती ख्याति जब पद की देन बन जाती है तो समीक्षा को उससे क्या लाभ हो सकता है!

इधर एक और नयी प्रवृत्ति दिखाई देती है कि नाट्य-समीक्षा के क्षेत्र में स्वयं नाटककार उतर आये हैं। प्रसाद तक तो खैर थी, लेकिन लक्ष्मीनारायण मिश्र से लेकर जगदीशचन्द्र माथुर, भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश, मुद्राराक्षस तक नाटककार कुछ न कुछ नाटक के बारे मे कहने पर उतर आये

१. माथुर का लेख 'नाटक की निजी सत्ता की खोज' नटरंग, अंक ३, पृ० १४

है। इनमें से कुछ लोगों ने जो कहा है, उससे नाट्य-समीक्षा का बहुत बड़ा हित हुआ है; किन्तु यहाँ भी लगता है जैसे कुछ को नाट्य-समीक्षा की नहीं, अपनी फिक्र पड़ी है। मैं एक ऐसे नाटककार को जानता हूँ जो खुद ही नाटक लिखते हैं, खुद ही अपनी समीक्षा लिखते हैं और खुद ही अपने नाट्य-प्रदर्शनों की चटखारेदार समीक्षा पत्र-पत्रिकाओं में स्वयं छपवाते हैं—हस्ताक्षर के रूप में नीचे स्वयं उनका नाम छप जाये तो आप उसे छापे की भूल न समझें; क्योंकि अपनी पुस्तकों में भी अपना नाम लेकर अपने नाटकों की समीक्षा करने की उनकी आदत है।

यह तो हुई आदत की मजबूरी। इधर पत्र-पत्रिकाओं में रंग-समीक्षाओं की प्रवृत्ति का उद्भव हुआ है। सिद्धान्ततः इस समीक्षा की बड़ी उपयोगिता है। इस प्रवृत्ति का उद्भव इस भावना के साथ हुआ है कि नाट्य-कृति को पढ़ना एक बात और उसका प्रदर्शन बिल्कुल दूसरी बात। नाट्य की पूर्णता उसके *पाठ्य नहीं, अभिनीत स्वरूप में है। इसलिए इस विचारधारा को बल* मिला कि जो अभिनीत हो, वही नाटक है और अभिनीत नाटक की ही समीक्षा होनी चाहिए क्योंकि वही अपने में सम्पूर्ण है; पाठ्य-कृति अधूरी या आधार-सामग्री-मात्र है। इस प्रकार नाट्य समीक्षकों के बीच ही रंग-समीक्षकों की एक और पाँत उठ खड़ी हुई जो इस बात की टोह लगाती है कि नाटक अपनी प्रस्तुति में पूरे रंग-साधनों का किस प्रकार उपयोग में ला पाया है। उनका कहना है कि उनकी समीक्षा एक जीवन्त प्रयोग की समीक्षा करती है; इसलिए वह श्रेष्ठ है। सच्चा रंग-समीक्षक वह है जो नाटक को दृश्य-विधान, अभिनय, रंगदीपन के जीवन्त सन्दर्भों में देखता है। वस्तुतः रंग-समीक्षक का कार्य एक प्रकार से दुहरा है। एक ओर उससे यह आशा की जाती है कि नाट्य-कृति की साहित्यिक उपलब्धियों से अवगत हो, दूसरी ओर उसे रंग-तत्त्वों और नाट्य प्रयोग का भी पूरा पारखी होना चाहिए। कला-आन्दोलनों से उसका सीधा परिचय होना चाहिए जिससे वह किसी प्रयोग की महत्ता या घटियापन का आकलन कर सके। संक्षेप में उसे नाट्य और रंग-तत्त्वों, रंगमंचीय इतिहास और विकास की परम्परा, विचारधारा तथा प्रेक्षक की मनोवृत्ति की जानकारी होनी चाहिए। उसका कार्य केवल छिद्रान्वेषण ही नहीं, वरन् मार्ग-दर्शन भी होना चाहिए।

इधर कई परिचालक और अन्य रंगकर्मी रंग-समीक्षकों से बहुत दुखी हैं। नेमिचन्द्र जैन ने नटरंग के पूरे दो अंकों (१०-११,१२) में रंग-समीक्षा की समस्याओं को उठाने का प्रयास किया है। उनका विचार है कि रंग-समीक्षा दो कारणों से अपरिहार्य हो गयी है, एक तो इसलिए कि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समीक्षा का प्रदर्शन में आने वाले प्रेक्षकों पर सीधा

प्रभाव पड़ता है और दूसरे यह कि सक्रिय उत्साही रंगकर्मियों को प्रोत्साहित करने, उन्हें उनकी जगह दिलाने और कलाहीनता का विरोध करने के लिए भी रंग-समीक्षा एक आवश्यक अवलम्ब है। हमारे देश में रंगमच की स्थिति को देखते हुए इस प्रकार की समीक्षा का और भी महत्व है। किन्तु रंग-समीक्षा का कार्य सरल नहीं है। एक ओर रग-समीक्षक कई प्रभावों से घिरे रहते हैं। स्वयं किसी न किसी मण्डली से सम्बद्ध होने के कारण वे पक्षपात की भावना से ग्रस्त होते हैं और उखाड़-पछाड़ में स्वार्थी वर्गों का साथ देते हैं। फलतः रंग-समीक्षक अभिनेताओं, परिचालकों और अन्य कलाकारों की दलगत राजनीति का माध्यम बन जाता है। यह स्थिति इस सीमा तक पहुँच जाती है कि उसका इन शब्दों में जिक्र करना आवश्यक हो जाता है : 'इस बीच दिल्ली से रंग-जगत् में समीक्षा और समीक्षकों को लेकर अच्छा-खासा वाद-विवाद छिड़ गया जिसने अक्सर आपसी तू-तू-मैं-मैं और उखाड़-पछाड़ का रूप ले लिया। विशेषकर निर्देशकों और समीक्षकों के बीच इस कारण बड़ी कड़ुवाहट पैदा हुई। दिल्ली के कुछ प्रमुख निर्देशकों-सयोजकों ने स्थानीय दैनिक में एक संयुक्त पत्र छपाकर अखबारों और पत्रिकाओं के सम्पादकों से माँग की कि उनके प्रदर्शनों की निष्पक्ष समीक्षा मुमकिन न हो तो समीक्षा के स्थान पर प्रदर्शन का विवरण-भर छापा जाय। कुछ निर्देशकों ने दैनिक पत्रों के सम्पादकों से, पत्र लिखकर या मिलकर इस या उस समीक्षक को हटाने का भी अनुरोध किया। इस सिलसिले में एक गोष्ठी भी हुई·· पर उस गोष्ठी में भी लफ्फाजी के साथ या सीधे-सीधे एक-दूसरे पर आरोप लगाने से ज्यादा कुछ नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त पिछले महीनों में एनैक्ट में प्रमुख निर्देशकों के साथ जो भेंट-वार्ताएँ छपीं, उनमें भी प्रायः हरएक ने समीक्षकों को बहुत बुरा-भला कहा, किसी-किसी ने तो उनको रंगमच के विकास में रुकावट तक बताया।'[1]

इस प्रकार का पारस्परिक मनमुटाव समीक्षा के मूल में कहाँ नहीं है? समीक्षा चाहे शुद्ध साहित्यिक हो या रग-कार्य से सम्बद्ध, उसमें भाईबन्दी, दोस्ती या इसके विपरीत दुश्मनी को रोक पाना कठिन कार्य है। आज समीक्षक दलों, वर्गों और नाट्य-मण्डलियों में बँटे हुए हैं। रचनाकार होने के नाते उनके पूर्वग्रह बहुत तीव्र हैं। पर जो हालत हमारी नाट्य-समीक्षा की ही नहीं है, वह समस्त रंग-आन्दोलन की है। नाट्य-लेखन, रंगमच आदि के क्षेत्र में सर्वत्र ऐसे लोगों की कमी नहीं है। वे सभी—कुछ अपवादों को छोड़कर या तो दोस्ती निभाते हैं, या रंगकर्मी की हैसियत, पद और प्रतिष्ठा के दबाव में होते हैं या अपने

१. नेमिचन्द्र जैन, नटरंग, अंक १२, पृ० ३

लाभ के लिए चापलूसी या निन्दा के दुष्चक्र में पड़ते हैं। इस स्थिति के बावजूद भी नाटककार, रंगकर्मी और समीक्षक के बीच सम्वाद की स्थिति होनी चाहिए। इस समय हमारा रंगमंच एक ऐसे दौर में गुजर रहा है जब तीनों का आपसी सद्भाव उसे एक सही दिशा दे सकता है।

कुछ विद्वान् नाट्य समीक्षक की स्थिति प्रेक्षक से भिन्न नहीं मानते। इस बात में कोई विरोध नहीं है कि प्रेक्षक रंगकार्य का भावक होता है और उसकी भी उसके सम्बन्ध में एक सही या गलत प्रतिक्रिया होती है। कुछ प्रेक्षक जागरूक हो सकते हैं, पर नाटक के मूल्यांकन के लिए मात्र उन पर निर्भर नहीं किया जा सकता। फिर भी प्रेक्षकों का ध्यान आकर्षित करने की क्षमता भी रंगमंच का एक गुण है। वे नाटक और रंगकार्य के प्रति आस्था बढ़ाते हैं। पर समीक्षक का काम यह देखना नहीं है कि प्रेक्षक उससे कितने मन्त्र-मुग्ध होते हैं।

स्पष्ट है कि चाहे नाटक की साहित्यिक समीक्षा हो या नाट्य-प्रदर्शन की रंग-समीक्षा, सर्वत्र एक प्रकार की विसंगति घर कर गयी है। असल में समीक्षकों को चाहिए कि और गहरे उतरें। नाटक न निरा साहित्य है और न निरा रंगमंच। वह अपनी शब्दार्थमयी योजना में अत्यन्त सूक्ष्म और रंगमंच पर अपने इन्द्रियगम्य प्रदर्शन के रूप में अत्यन्त स्थूल है। पर स्थूलता और सूक्ष्मता का यह समन्वय एक ऐसी विलक्षण नाट्यानुभूति से जुड़ा है जिसकी पहचान केवल ऊपरी सतह से नहीं, वरन् हृदय में बहुत गहरे उतरकर ही की जा सकती है।

समस्त गतिरोधों के बावजूद भी हिन्दी नाट्य-समीक्षा भी एक नयी दिशा की तलाश में आगे बढ़ रही है। इसमें नटरंग, एनैक्ट, नाट्य आदि पत्रों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इधर अपने छिटपुट निबन्धों और समीक्षाकृतियों को लेकर कई लोग आगे आये हैं जिन्होंने हिन्दी नाट्य-समीक्षा को आधुनिकता-बोध से समन्वित किया है। इनमें नेमिचन्द्र जैन, मोहन राकेश, गिरीश रस्तोगी, सुरेश अवस्थी, वीरेन्द्रनारायण, कुँवरजी अग्रवाल, कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, बच्चन सिंह, धर्मवीर भारती, विपिन कुमार, रामस्वरूप चतुर्वेदी, बृजमोहन शाह, लक्ष्मीनारायण लाल आदि उल्लेखनीय हैं।

परिशिष्ट

पुस्तक में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली

अभिनय/नटन acting
अभिनेता/नट actor
मूकाभिनय mime
मुखौटा mask
अतीत दृश्य flash back
अनुकृति mimesis
अनुक्रिया response
अन्तरालिका interlude
आलेख script
आयाम dmension
उपसंहार epilogue
उपकरण Property
एकालाप mornologue
गगनिका cyclorama
मिश्रकला mixed art
जटिल कला complex art
प्रदर्शन कला performing art
शुद्ध कला ,pure art
अशुद्ध कला impure art
रंगमंच कला theatre art
नाट्य कला dramatic art
आलेखी कला graphic art
रूप विधायक कला plastic art
चाक्षुप visual
छद्मवेशी नाटक masque
रहस्य नाटक mystery plays
नैतिक नाटक morality plays
चमत्कार नाटक miracle plays
संगीतिका opera
प्रहसन farce
अति नाटक melodrama
एकालाप molodram
वृत्तनाटक documentary
पूर्णाकार नाटक full lengh play
समस्या नाटक problem play
सुरचित नाटक well made play
आशु नाट्य improvisation
स्वच्छन्दतावाद romanticism
यथार्थवाद realism
प्रतीकवाद symbolism
अति यथार्थवाद sur-realism
प्रकृतवाद naturalism
दादावाद dadaism
विसंगतिवाद absurdism
अभिव्यक्तिवाद expressionism
निर्माणवाद constuctivism
भविष्यवाद futurism
रंगमच stage, Theatre
मंच stage
रंग theatre
रगीय theatrical
रंगीयतावाद theatricalism
मुक्ताकाशी रगमंच openair theatre
वृत्तरगमंच theatre-in-the-round

अखाड़ा रंगमंच arena theatre
घुड़नाल रंगमंच horse shoe theatre
सम्पूर्ण रंगमंच total theatre
सन्दूकाविया रंगमंच box set theatre
उद्गामी मंच elevator stage
अधोगामी मंच sinking stage
चक्री मंच revolving stage
सर्पी मंच sliding stage
मंचाग्र fore stage
रंगस्थली arena
रंगपल्लव apron
रंगद्वार proscinium
सज्जागृह dressingroom
महाकाव्यात्मक रंगमंच epic theatre
प्रकाश योजना lighting
पाददीप foot light
पुंजदीप flood light
अनुगामी पुंजदीप chaser
मंदक dimmer
अंचल दीप border light
रूप-सज्जा make-up
रूप-सज्जाकार make-up man
मुखौटा mask
परिचालक director
भावनिरपेक्षता alienation
प्रेक्षक andience
प्रेक्षागृह auditorium
भूमिका निर्धारण casting
व्याख्या interpretation
संकेत cue
अदायगी delivery
अभिकल्पक designer
चौखट frame
भंगिमा gesture
समूहन grouping
सत्याभास illusion
स्वररचार intonation
गति movement
मिथक myth
नेपथ्य off-stage
तारत्व pitch
पूर्वाभ्यास rehearsal
भावधर्मी presentational
वस्तुधर्मी representational
प्रस्तुति production
प्रस्तावना prologue
अनुबोधक prompter
मंच सामग्री property
छाया नाटक shadow play
नट चक्र repertory
अनुष्ठान ritual
निहितार्थ sub-textual meaning
दृश्य scene
दृश्यावली scenery
दृश्यबंध set
दृश्य-विधान setting
एकल दृश्यबंध unit set
विराम pause
मौन silence
एकल solo
रंग-संकेत stage direction
रीति style
अन्विति unity
कर्मशाला workshop
दिक् space
सममिति symmetry
पाठ text
मण्डली troupe